मंज़िल कहाँ ?

[सामाजिक मौलिक उपन्यास]

लेखक—

शुकदेव सिंह, 'सौरभ'

—※—

प्रकाशक—

शंकर सिंह

हिन्दी पुस्तकालय

नन्दनसाहू लेन, बनारस।

बसंत-पंचमी, १९५६ [मूल्य ३॥)

अनूठी पढ़ने योग्य पुस्तकें

१—हिंदी के वर्तमान कवि और उनका काव्य—(संपादक) गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' बी० ए०, (प्रस्तावना ले०) पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' लंदन भू० पू० शिक्षा संचालक मध्य प्रदेश

२—उर्दू के कवि और उनका काव्य—(सम्पादक) गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' बी० ए०, (प्रस्तावना ले०) डा० उदयनारायण तिवारी एम० ए०, डी० लिट. उच्च पदाधिकारी प्रयाग विश्वविद्यालय

३—कहानीपुञ्ज—श्रीसूर्य्यबलीसिंह

४—आँख की किरकिरी—रवीन्द्रनाथ टैगोर

५—नाव दुर्घटना— ,,

६—पथ के दावेदार—शरत्चन्द्रबोस ५।

७—देवदास— ,,

८—गीताञ्जलि—(रवीन्द्रनाथ ठाकुर) पद्यात्मक अ० लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' ४

९—आकर्षण—ले० बरजोरसिंह १।

१०—मिलन मन्दिर—ले० देवनारायण द्विवेदी १

११—कन्या शिक्षादर्पण—ले० पार्वती देवी ।

१२—नारी-धर्म-शिक्षा—मनव्रता देवी =

१३—कुत्सित जीवन—महात्मा गांधी १।।

१४—रामधुन—सूर्य्यबलीसिंह १

१५—सत्संग भजनमाला—सूर्य्यबलीसिंह १

१६—मनोहर पत्र—ले० भारत के महापुरुष-साहित्यिक आदि ७

१७—दहेज—देवनारायण द्विवेदी मौलिक उपन्यास २।।

१८—ब्रह्मचर्य की महिमा—सूर्य्यबलीसिंह ।।

मिलने का पता—

शंकर सिंह, हिन्दी पुस्तकालय,

नन्दनसाहु लेन, बनारस।

ॐ

१

जगत और जीवन के कंकाल के सामने प्रश्न का चिह्न था। जब उसका हृदय मोम सा मुलायम हो गया तो वही चित्र उस पर उरेह उठा, जब वह आलस्य देवालय सा पूत हो गया तो उसमें उसकी स्थापना हो गयी।

आज वह एक उद्यान में था। फूलों की क्यारियाँ अभी अभी सींची गयी थीं। केलिफोर्निया पापी, नर्गिश, जूही, नागकेशर आदि आदि फूलों की भीनी-भीनी, झीनी-झीनी, तरल, तीव्र, मधुर तरह-तरह की सुगंध फैल रही थी।

ऐसे वातावरण में भी वह दुर्गंध से रुँधा हुआ क्षुब्ध हो कह रहा था—"इस नश्वर संसार में सर्वत्र विषमता ही का साम्राज्य है। भोले शैशव ने जो स्वर्ग देखा था वह कहीं छूमंतर हो गया। वह सब कुछ खोकर सयाना कहलाया।

क्या विशृंखलता ही यहाँ की व्यवस्था है? विश्व विशृंखल! राष्ट्र विशृंखल! समाज विशृंखल! परिवार विशृंखल! स्वयं अपना आप विशृंखल—अपने ही एक मन में इतने भाव, हृदय मे इतनी अभिलाषाएँ—बहुमुखी, लोम-विलोम! जीवन को शांति कैसे मिले? क्रांति से!

मनुष्य से कुछ भी आशा करते नहीं बनती, कुछ कहने की इच्छा नहीं होती। जी में आता है इन फूलों से अपनी कहानी कहूँ और पूछूँ—मेरी मंजिल कहाँ?"

लता निकुंज से निकलती हुई कोई तरुणोन्मुखी कुमारी बोल उठी—"यहाँ अकेले फूलों से बातें कर रहे हो योगेन्द्र!"

वह चौंक कर बोला—"सविता! तुम कहाँ से आ गयीं—यहीं छिपी थीं कि अचानक आ गयीं?"

सविता स्थिर दृष्टि से योगेन्द्र की ओर देखने लगी और बोली—"छिपकर

भी तो कुछ जान नहीं पाती हूँ। इंजन में भाप कुछ भक-भक कर रही थी, पर यह अंतिम सा धक्का क्या? जिससे गाड़ी चल देना चाहती है। कौन सा स्टेशन–कौन सी मंजिल है?"

योगेन्द्र चुप रहा। दोनों एक दूसरे को देख रहे थे। कुछ रुक कर सविता बोली—"क्या बताने लायक नहीं?"

यो०—क्या बताऊँ सविता, समता ढूँढ़नेवाली दृष्टि विषमता का अंतिम चरण देख रही है। भाभी मुझे प्यार करती हैं···।

स०—हाँ, तो।

यो०—भैया को यह बात अच्छी नहीं लगती। वे मुझसे अंग्रेजी पढ़ती हैं, मुझे स्नेह करती हैं, खाना-पीना देती हैं। मैं कह दूँ, न पढ़ाऊँगा; मुझसे न बोलो, मुझे कुछ न दो? स्नेह अस्नेह कैसे उत्पन्न करे?—कैसे?

सविता विस्मित हो अग्रैपिणी मुद्रा से सुनती रही और वह दीर्घ निःश्वास ले कहता रहा—"वही भैया जो मुझे प्राणों से भी निकट रखते थे, मुझे देखे बिना जिनके दिन तमिस्रा-से भयावह हो जाते, भूली दृष्टि से भी मुझे देख जल उठते हैं। भाभी को भी वे उन्हीं तप्त आँखों से देखते हैं।"

स०—योगेन्द्र! क्या कह रहे हो? अर्थ का अनर्थ तो नहीं कर रहे हो?

यो०—नहीं नहीं, मैं अनर्थ नहीं करता सविता। मानव समाज बड़ा ओछा है। इसने छिछले नियम बना लिये हैं, स्वार्थपूर्ण, द्वेष-दग्ध, संकीर्ण संस्कार पा लिये हैं। स्त्रियों का अधिकार कितना विद्रोही अधिकार है! तीन-चौथाई संघर्ष, अशांति इसके ही लिए है। यह अधिकार अधिकारों का अपवाद है क्यों? मान लो भैया की ही निर्मूल धारणा सही हो, तो क्या मैं उस असीम भातृ-स्नेह से समूल वंचित हो गया? जिसका सब कुछ मेरा है, उसका यह विविक्त अधिकार कैसा? प्रेम से प्रेम का निर्वासन! आह! यह मैं आज जान रहा हूँ! प्रेम पर लिप्सा की विजय! कहाँ जाऊँ, किससे—!"

२

योगेन्द्र के साथ ही सविता ने भी एम० ए० पास किया था। वह आई० सी० एस० के चुनाव में आ गया था। परंतु उसे विलायत जा आई० सी० एस० की शिक्षा न पानी थी, अब तो उसे जीवन के महा विद्यालय में असाम्य में साम्य ढूँढ़ना था—क्रांति में शांति पानी थी।

सविता के मकान पर योगेन्द्र बहुत देर से था। बातें हुईं, रेडियो के गाने हुए। फिर उसने विदा माँगी।

सविता—जाओगे अकेले ?

योगेन्द्र—अकेला मैं किस क्षण रहता हूँ ? तुम शायद ....

वह मुस्करा उठी। योगेन्द्र ने उस मुस्मिति की पूत त्रिवेणी में गोता लगा लिया। प्रेम मुग्ध आँखों से उस पर्व को देखा और विदा हो गया। वह मार्ग में था, वह कमरे में; परंतु मानो वे अभी वहीं थे।

इधर चन्द्रावती, योगेन्द्र की भाभी और चन्द्रदेव वकील, उसके बड़े भाई, में अनुशय चल रहा था—

चन्द्रदेव—क्या देख रही थीं अभी तुम ?

चन्द्रावती—यही योगेन्द्र की फोटो।

चन्द्रदेव—जिसे दिन-रात देख रही हो उसकी फोटो !

चन्द्रावती—पड़ी थी देखने लगी। देखते नहीं कितना भावुक है। मुद्रा कह रही है, जीवन की महती विजय उसके पद-चिह्न चूमने को लालायित है।

चन्द्रदेव—और उससे भी महती विजय तुम्हारा मार्ग देख रही है। मैं देखता हूँ तुम दोनों नीचे गिरे जा रहे हो। जवानी के जोश में मर्यादा और शिष्टता की ऐसी अवहेलना !

चन्द्रावती ऐसे उचक पड़ी मानो साँप के ऊपर पैर पड़ गया हो। बोली—"नीचे गिरे जा रहे हैं ! जवानी का जोश !"

वे तीक्ष्ण तिरस्कार-तप्त शब्दों में बोले—"देवी जी मानो कुछ जानती ही नहीं ! पथ-भ्रष्ट हुए जा रहे हो तुम दोनों ! सुना ?"

वह सिहर उठी, काँप उठी। ऐसी झनझना उठी जैसे मिजराब की चोट से सितार। बोली—"बस यहीं तक ! योगेन्द्र के कानों में न पड़ें ये शब्द ! मुझे चाहे जो कह लो, उसके लिए फिर ऐसा मुख से न निकालना। तुम्हारे लिए, मेरे लिए उसके हृदय में कैसा पवित्र स्थान है ! उस मंदिर को न तोड़ो ! परंतु तुम्हारे दूषित विचारों की छाया ने उसे छू तो अवश्य ही लिया होगा।"

प्रभाव विपरीत हुआ। नूतन शाण चढ़ गया। वे और अधिक रोष-दीप्त हो बोले—"दोनों भ्रष्ट, दोनों पतित ! मेरे मुख में ताला भी लगाना चाहती हो ?"

चन्द्रावती काँपती हुई बोली—"तुम्हें क्या हो गया ? ईश्वर के लिए योगेन्द्र को कुछ न कहो। ऐसा भाई कहाँ होगा ?"

चन्द्रदेव—कहूँगा, सौ बार कहूँगा। वह आवारा है, तुम आवारा हो। दोनों की खबर लेता हूँ।

चन्द्रावती—बस बहुत हो चुका ! योगेन्द्र के विरुद्ध मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहती।

वे भभक उठे। समीप रक्खी हुई बन्दूक हाथ में ले उसे लक्ष्य कर बोले—"अब सुनेगी री वीरांगना ?"

योगेन्द्र आ गया। तुरंत चंद्रावती को पीछे कर बोला—"मृत्यु का पहला लक्ष्य, नहीं नहीं, मृत्यु का एकमात्र लक्ष्य मैं हूँ। भाभी का अपराध ?"

चंद्रावती आगे जाने की व्यर्थ चेष्टा करती हुई बोली—"नहीं मैं, केवल मैं !"

प्रहारोद्यत से कोई उत्तर न मिला। हाथ घोड़े पर बढ़ गया, बन्दूक छूट गयी। पर वार खाली गया। परंतु रोषांध चन्द्रदेव ने समझा वह सही है। वे निस्तब्ध रहे, वे उन्मत्त से घर से निकल गये। योगेन्द्र ने मुड़कर चन्द्रावती को और उसने योगेन्द्र को पकड़ लिया। दोनों एक दूसरे के लक्ष्य-विद्ध होने की आशंका तथा भय से आक्रांत थे। कुछ देर तक वे उसी अवस्था में अचल और अवाक् रहे।

आश्वस्त होने पर योगेन्द्र ने छलछलाई हुई आँखों से कहा—"भाभी,

भैया को प्रसन्न रखने के लिए कुछ दिन मुझसे न बोलो। तुम्हारा स्नेह अचल है और रहेगा। मैं तुम्हारा ही रहूँगा, चाहे जहाँ और जैसे रहूँ। भैया को प्रसन्न करना तुम्हारा और मेरा दोनों का कर्त्तव्य है।"

चन्द्रावती ने करुण कातर स्वर में कहा—"तुमसे न बोलूँ, तुम्हें स्नेह न करूँ! हृदय पाषाण बना दो! मुझे कर्त्तव्य-विमुख करके कर्त्तव्य-परायण बना दो!"

फिर वह कुछ न कह सकी, सिसक-सिसक कर रोने लगी। योगेन्द्र ने उसके आँसू पोंछते हुए प्लावित शब्दों में कहा—"भाभी!"

२

शारदीय निशा के निर्मल, नीले गगन-सदन में विश्रांत विधु-बाला के विकच मुखारविन्द से अमित छवि की चाँदनी छिटक रही थी। तुहिन-विन्दु से सुआर्द्र मन्द-मन्द मरंद-मुग्ध समीर मोद की मधुमयी तरंगों-सी, प्रेम-छंद के भावों सी मधुर-मधुर चल तन-मन को किसलय-सी लहरा और कोकिल-सी कूकित कर रही थी।

उस स्वर्गीय बाला-सी ही कोई यौवनोन्मुखी सुंदरी एक सुसज्जित कमरे में खड़ी थी। गुथी हुई चोटी बल खायी हुई नागिन-सी बूटेदार कपड़े की ऊपरवाली कोट और लहरिया साया के ऊपर नितंब तक लटक रही थी। पैर में मोजे और अंग्रेजी जूते थे—योरोपियन लेडी का वेश था। गोरा रंग, स्वस्थ, सटकार शरीर, बड़ी-बड़ी आकर्षक आँखें—अतीव रमणीय मूर्ति थी।

एक अधेड़ पुरुष गद्दीदार कुर्सी पर बैठा था। सामने चाँदी के गिलास में सद्य फूलों के गुच्छे सजे थे। बिजली का प्रकाश था, परन्तु कमरे की चाँदनी में फीका लग रहा था, कम से कम भावुक आँखों को।

पुरुष ने पूछा - "ये ही कहानियाँ हैं?" सुन्दरी बोली —"जी हाँ।"

वे कोई कहानी पढ़ने लगे। वह चुपचाप खड़ी रही। देर में वे चौंककर बोले—"योगेन्द्र! क्या सब कहानियाँ उसी की हैं?"

सुंदरी—जी हाँ।

पुरुष—वही योगेन्द्र, चन्द्रदेव वकील का भाई?

सुं०—(कुछ सहमकर) जी हाँ।

पु०—भला इन कहानियों के फिल्म लेने से हमारी कम्पनी रह सकती है? सब राष्ट्र के विरुद्ध। इन युवकों को स्वयं मैदान में आना चाहिए। दूसरों का नाश करने में इन्हें देर नहीं लगती। कहानियाँ अच्छी हैं, पर मेरे काम की नहीं।

उसकी आकृति मलिन हो गयी। वह कुछ न बोली। पुरुष फिर बोला—

"चन्द्रदेव ने ही हमारे मुकदमे में बीड़ा उठाया था। किसी तरह जान बची। तुम उन्हीं के भाई योगेन्द्र से...।"

सुंदरी ने सिर नीचे कर लिया। वह फिर बोला—"ऐसे कितने जेल की हवा खा रहे हैं। उच्छृंखल!" वह धीरे से कुछ प्रतिवाद के भाव से बोली—"ऐसे उत्कृष्ट विचार और विचारक उच्छृङ्खल!"

"हाँ, उच्छृङ्खल! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारा जीवन नष्ट हो। योगेन्द्र के साथ तुम्हारा संबंध कभी नहीं हो सकेगा।"

सुंदरी की मुखाभा निष्प्रभ हो गयी: शशि अभ्रमाला से ढक गया। पुरुष ने व्यंग्यभाव से कहा—"फिर उसे तो परतंत्र को स्वतंत्र बना, साम्य स्थापित कर, विश्व को लोकायन बनाकर ही, विवाह करना चाहिए। आशय भी ऐसा ही जान पड़ता है। नेता जी ठहरे।"

सुंदरी के नेत्र विस्फारित हो गये। वे जीवन की जटिलताओं पर प्रसरित होने का प्रयास करने लगे। बाहर एक नवयुवक उनकी बातें सुन और उसकी भाव-भंगिमा को देख रहा था। सुन्दरी की दृष्टि भी उस पर पड़ गयी। तब वह, मानो मन में, शीश हिलाकर इंगितों से कह रहा हो—"हाँ, ऐसा ही होगा!" सुन्दरी को उसका पूर्ण बोध हो गया।

कहानियाँ उसके आगे उपेक्षा से हटा वह पुरुष उठ गया। नवयुवक इसके पहले ही अपना आसन छोड़ चुका था। सुन्दरी बाहर आ उसे ढूँढ़ने लगी। कहीं न देख आगे बढ़ी। कुछ ही दूर जाकर पा लिया। वह पीछे मुड़कर बोला—"सविता!"

सुन्दरी—हाँ, योगेन्द्र से उपेक्षित हुई, बे समझी हुई सविता!

युवक—मैं योगेन्द्र और सविता की उपेक्षा करूँ, उसे न समझ सकूँ, जिसे बहुत कुछ समझना है!

सु०—फिर क्यों इस तरह...?

यु०—फिर मिलता, अवश्य मिलता। इस समय...।

सविता ने योगेन्द्र का हाथ पकड़ लिया और उस पर प्रणय-दृष्टि सुस्थिर कर दी। वह भी उसकी ओर देखने लगा। कुछ देर बाद विचार-विमुग्ध मुद्रा

में वह अपनी अँगूठी उतारने चला; परन्तु रुक गया। युवती ने अपनी उँगली आगे बढ़ाते हुए कहा—"क्यों...?"

योगेन्द्र ने कहा—"अभी अपने पिता जी से क्या सुना? उनकी अवज्ञा तुम्हें उचित नहीं।"

"इस अवज्ञा में आग्रहपूर्ण आज्ञा प्रच्छन्न है, मेरी अंतरंग प्रेरणा कहती है और प्रेम...।" सविता बोली।

योगेन्द्र ने उसकी कोमल उँगली में अपनी अँगूठी पिन्हा और उसकी अपने में पहन उसका हाथ अपने हाथों में ले लिया। सविता लता-सी उसके रसाल-कलेवर पर झुक गयी। उसने उसे आलिंगन में ले उसके कपोलों पर एक, दो, तीन...चुंबन अंकित कर दिये।

४

योगेन्द्र अपने कमरे में था और चन्द्रावती अपने। दोनों का विषाद समान था—भैया का, स्वामी का पता नहीं। न जाने कहाँ और कैसे होंगे। रह रह कर उस शारदीय निशा की आर्द्र आँखों-सी ही उनकी आँखों से भी टप्-टप् आँसू गिर पड़ते।

चन्द्रावती चली योगेन्द्र को देखने और वह उसे। द्वार पर ही दोनों मिल गये। दोनों आँखें अभी आर्द्र थीं—बादल बरस कर अभी-अभी गये थे—ओस की बूँदें अभी-अभी उड़ी थीं।

"भाभी तुम अभी रो रही थीं?"

"और तुम हँस रहे थे? आँसू अभी सूखे भी नहीं। मेरे लिए तुम्हारी यह दशा?"

उसे बैठाते और समीप बैठते हुए योगेन्द्र ने कहा—"मेरे लिए इतना दुख सहकर भी मेरे दुख का इतना दुख! माँ मर गयीं, पर मैंने जाना वे जीती हो हैं तुम्हारे रूप में। वही निःस्वार्थ ममता! वही अटूट स्नेह! परन्तु भैया...?"

कुछ देर बाद योगेन्द्र ने कुछ लंबी-सी साँस लेते हुए, कुछ संकोचभरी मुद्रा से कहा—"भाभी, एक नयी बात है!"

"क्या?"

उसने हाथ की अँगूठी दिखायी। उस पर लिखा था—'सविता'। प्रफुल्ल मुद्रा से अँगूठी हाथ में ले वह बोली—"वही सविता, मेरी देवरानी। विपत्ति से अपनी लालसा कह न सकी। परन्तु वह पूरी होने को आ गयी। बधाई देवर और देवरानी को। लेकिन मेरा घर जल्द जगमगा दो।"

"भाभी, यह तो अभी...।" कुछ गम्भीर होते हुए योगेन्द्र ने कहा। चंद्रावती का रंग उतर गया, पूछा—"अभी क्या?"

यो०—क्या कहूँ भाभी।

चं०—नहीं कहना चाहते हो?

यो०—विश्व के संगीतालय में कुछ अपने को भी गाना है।

चं०—इसे मैं जानती हूँ, आँकती हूँ, मानती हूँ। पर तुम अकेले गाना चाहते हो ? हम लोग भी तुम्हारे स्वर में स्वर मिला गाएँगी, तुम्हारे कंधे से कंधा मिला चलेंगी।

बिजली बुझ गयी, कमरे में अँधेरा हो गया। चंद्रा बोली—"देखो हमारी देवरानी के बिना तुम्हें प्रकाश नहीं मिल सकता—निश्चय समझ लो।" वह हँस पड़ा। उस अँधकार में वह हँसी मानो किसी निविड़ पथ और उसके पथिक की छाया दिखला रही हो।

चंद्रा बोली—"वहाँ लालटेन जलता है, चलो भोजन कर लो।"

"कहीं भी रहूँगी, रहूँगी तुम्हारे साथ। मिलने का दिन भी आयेगा। चलो, आगे बढ़ें।

तुम्हारी

सविता"

यही पत्र जब वह भोजन कर अपने कमरे में गया, तो पलँग पर रक्खा पाया। पत्र अनेकों बार पढ़ा—पढ़ते-पढ़ते सो गया। सविता का पत्र छाती पर था और सविता छाती में धड़क रही थी—चलो आगे बढ़ें।

५

उषा-रंजित सागर के प्रशस्त प्रतीर पर पण्डित जवाहरलाल नेहरू बापू के साथ भ्रमण करते हुए किसी राजनीतिक प्रश्न पर उनसे परामर्श कर रहे थे। वे अपनी शंकाएं और उलझनें कहते जाते थे और बापू उनका समाधान करते और उनके सुलझाने की युक्तियाँ बताते जाते थे।

थोड़ी ही देर में विषय बदल गया और अभिनव वार्ता के समर्थन में महात्मा ने कहा "हाँ, ऐसा होनहार नवयुवक एक भी जिस देश में हो तो उसके भविष्य की उज्वलता में भला किसे संदेह हो सकता है?" पण्डित जी बोले—"इस वय में ही उसकी हिमालय-सी मनोनिष्ठा, बिजली-सा ओज, सत्य-सी निर्भीकता तथा होनहार सा अदिग साहस आश्चर्य-चकित कर देता है। भगवान् उसे दीर्घायु दें। लीजिए, वह आ भी गया।"

योगेन्द्र ने निकट आ उनके चरणों का अभिनंदन किया। उन्होंने उसे हृदय लगा आशीर्वाद दिया। वह बोला—"बापू! आज मैं आशीर्वाद ही लेने आया हूँ, और यह आदेश चाहता हूँ कि मैं कार्य अपनी पद्धति पर करूँ। अन्य बातें निवेदन कर चुका हूँ।"

"फिर फिर आशीर्वाद है बेटा। तुम्हारी मनस्कामना देश की ही नहीं, विश्व की मनस्कामना है। वह अवश्य पूर्ण होगी। भगवान् तुम्हें दीर्घायु दें! हमें तुम्हारी पद्धति और तुम पर पूर्ण विश्वास है। हमें सर्वदा अपने साथ पाओगे। इतना समझ लेना कि मंज़िल पीछे न मुड़नेवाले राही के कदमों पर होती है।"

योगेन्द्र पूर्ण साम्य चाहता था। क्या वह कर्म जगत में मिल सकता है? क्या विषम संसार में कभी समता आ सकती है? क्या वह इसका रहस्य जानता था? क्या वह कर्म की सत्ता से वश था?

जो कुछ भी हो, वह नवयुवक था, उच्च भावों और अभिलाषाओं से भरा था। उसकी रगों में उष्ण रक्त दौड़ रहा था, वह अदम्य उद्वेग से उद्वेलित था। वह अपनी समग्र उग्र प्रकृति के साथ जीवन के जटिल क्षेत्र में कूद पड़ा।

उसने ऐटलस में विश्व का विशाल कलेवर देखा था—उसके कितने अंग टूटे-फूटे और कितने कठिन जंजीरों से जकड़े । परन्तु उसे निराशा न हुयी। उसने लोक सेवा-संत्र की स्थापना की और पूर्ण साम्य, पूर्ण सत्य पर पहुँचने के लिए लोक-सेवा-पथ पर प्रयाण कर दिया—आंदोलन आरंभ कर अपनी मंजिल की ओर चल पड़ा।

जाड़े की रात थी, कड़ी शीत पड़ रही थी। स्वयं-सेवकों के कैंप पर पुलिस का छापा पड़नेवाला था। सभी स्वयंसेवक शीत से अस्वस्थ हो गये थे। योगेन्द्र अकेला पहरे पर घूम रहा था। आकाश से तुषार की वर्षा हो रही थी। सघन, हिम-वृष्टि से प्रकाश में धुँधलाहट आ गयी थी। आधी रात के पार होने जा रही थी। भाँय-भाँय कर रहा था। प्रकृति के प्रहरी बड़े-बड़े वृक्ष शीत से ठिठुर निष्प्राण से खड़े थे। योगेन्द्र के अंग भी ठिठुरे जा रहे थे, रक्त भी शिथिल हो चलता; परंतु तब तक दृढ़ साहस की ऊष्णता दौड़ जाती।

दूर पर कार की दबी-सी सनसनाहट सुन पड़ी। वह चौकन्ना हो गया। देखते-देखते वह निकट आ गयी। पन्द्रह सशस्त्र सिपाही मोटर से बाहर निकल आये। सीटी बजी और योगेन्द्र गिरफ्तार! पूछा—"अपराध ?"

उत्तर मिला—"राष्ट्र का विरोध।"

वहाँ के सभी कागज-पत्र तथा अस्थावर सम्पत्ति पुलिस से अधिकृत कर ली गयी।

६

महीनों बीत गये, अभियोग की कोई सुनवाई न आरंभ हुई। जेल की एक संकीर्ण कोठरी योगेन्द्र को मिली, विश्व से, देश से, युनिवर्सिटी से, घर से, मित्रों से—सबसे दूर।

धीरे-धीरे नया परिचय होने लगा। परिस्थिति अपने पैरों पर खड़ी होने लगी, अपना घर-बार बनाने लगी। पहला परिचय हुआ अजीतसिंह से—वृद्ध, सफेद दाढ़ी, गोरा रंग, अनुभूति पूर्ण, शांत मुद्रा। उनके पन्द्रह वर्ष जेल में बीत चुके थे।

आधी रात का समय था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था, बस पहरे वालों के पैर की आवाज रह-रह कर सुना जाती। कभी-कभी कोयल और पपीहे बोल उठते; परन्तु उनके स्वर जेल की ऊँची चारदिवारी के भीतर आते-आते काँप कर विलीयमान हो जाते। जेलवाले रसाल पर भी कोयल कभी-कभी कूक उठती। परन्तु वह कूक एक हूक भरी कहानी-सी कह जाती। योगेन्द्र ने खिड़की पर झुककर कहा—"बाबा, आज अपनी कहानी सुना दें!"

बाबा—तुम! आ गये बेटा, मैं सोच ही रहा था। मेरी दुख और करुणा की कहानी। लेकिन वही तो सुख-शान्ति और संयम की कहानी होती है और है। तुम तो विद्वान् हो, मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। हाँ, कुछ अधिक वर्षों ने, विभीषिकाओं ने मेरे जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ दी है। मैंने ये ही पुस्तकें पढ़ी हैं। सुनो बेटा

मैंने अपने जीवन में जान-बूझकर किसी का हृदय भी नहीं दुखाया। दीन-दुखियों की यथाशक्ति सहायता करता रहा। हाँ, एक बात अवश्य थी—किसी पर किसी का अन्याय मैं नहीं सह सकता था। मेरी इस मनोवृत्ति ने, आस्था ने बहुतों को विरोधी बना दिया। फिर भी मैं नहीं जानता था कि मेरे शत्रु हैं। पुलिसवालों से भी मेरी कम पटती।

मेरे ही एक पड़ोसी ने दूसरे पड़ोसी को काट डाला—दिन को नहीं, रात

को। बहुत से लोग मेरे विरुद्ध अपना अवसर ढूँढ़ रहे थे। उनकी बनी। पुलिस को मेरे विरुद्ध प्रमाण प्रस्तुत करने में विलम्ब न लगा। मेरी चालान कर दी गयी।

मेरी स्त्री, एक लड़का और एक भाई था छोटा। कभी विकट परिस्थिति उनके सामने न आयी थी। कूटनीति, षड्यंत्र—यह सब वे कुछ भी न जानते थे। मुझे अभियोग से मुक्त करने के लिये उन्होंने एक न उठा रक्खी। सारी संपत्ति बेंचकर लड़ने में लगा दी, पुलिस को भी लिया-दिया; परन्तु व्यर्थ। हाईकोर्ट तक लड़े, प्रीवी-काउंसिल में अपील की, परन्तु मेरे आजन्म काले पानी का दण्ड छूट न सका। काले पानी न जाकर यहीं पड़ा हूँ।

मेरा भाई, मेरी स्त्री और बेटा मुझे यहाँ देखने आया करते, आँसुओं से यह खिड़की धो और आहों से दीवालें हिला दिया करते। परन्तु क्या हो सकता था! मेरे प्राण वहाँ, मेरी देह यहाँ। मैं कैसे जीता रहा उस अंधकार में, आह में, कैसे वे, कह नहीं सकता। समय की बलिहारी है!

सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा, वे यहीं हमारे सामने तड़प-तड़प कर मर गये—स्त्री और लड़का एक साथ, एक बार, और भाई दूसरी बार।"

योगेन्द्र सिर से पैर तक काँप उठा! आँखों से झर-झर आँसू झरने लगे! उसकी सारी आस्तिक आस्था मानो किसी ने सबल हाथों से बिखेर दी। उन्होंने उसके आंसू पोंछते हुये कहा—बेटा, रोओ न, तुम्हें विभीषिकाओं का सामना करना होगा। सुनो—

आँसुओं में डूब-डूब, आहों में तड़प-तड़प यहीं कोठरी में पड़ा रहा। संसार में कितनी चहल-पहल है, कितनी प्रगति है, कितने मार्च हो रहे हैं; प्रकृति मंच पर ऋतुओं के कैसे अभिनय हो रहे हैं; कितने जन्म-मरण हो रहे हैं, पर मेरी आँखों को—बंदी की आँखों को उनका सौभाग्य कहाँ! यहाँ तो बस इतना ही है सुबह हुआ, शाम हुई; यह कैदी छूटा, वह कैदी आया; यह यातना, वह यातना!

परन्तु इस कारा में मैंने जो संसार देखा वह शायद बाहर न देख पाता! सुख में अंधकार है, दुःख में प्रकाश। अभिप्राय यह नहीं कि हम दुःख चाहें, और न कोई ऐसा चाह सकता। चाहेगा भी तो सुख के ही लिये। परन्तु प्रकाश-वाला सुख कुछ और है और वही अंत है।"

योगेन्द्र ने असीम श्रद्धा से कहा—"बाबा, लोग नास्तिक हो जाते हैं, तो क्या बुरा करते हैं ? यह कैसी अंधा-धुन्धी है !"

वे बोले—"सच्चा नास्तिक आस्तिक है और झूठा आस्तिक नास्तिक है। मेरी ही कहानी सी और भी कहानियाँ तुम सुनोगे बेटा। फिर बातें होंगी।

एक दिन श्याम ने अपनी कहानी सुनायी – हिन्दू-मुस्लिम बलवा बड़े जोरों से शुरू हुआ था। जो जिसे जहाँ पाता, मार देता। मुझसे वह हत्याकाण्ड नहीं देखा गया। प्राणों का लोभ छोड़ बीच में कूद पड़ा। जो जैसे मानता उसे वैसे मनाता। पता नहीं मैं कैसे बच गया। शायद जनता में अपने आतंक के कारण।

मैं तो उधर अपने को स्वाहा करने पर तुला था, इधर कुछ मुसलमानों ने मेरे घर पहुँच मेरी स्त्री तथा बाल-बच्चों को तलवार के घाट उतार दिया। वहाँ गया तो अपने आँसू के बदले रक्त की नदी देखी। बुरी तरह से मारे गये थे वे।"

इतना कहते कहते उनकी घिग्घी बँध गयी और वे सिहर उठे, योगेन्द्र भी। उसके दीर्घ निःश्वास से निकल पड़ा—"हाय भगवान !"

श्याम ने आश्वस्त हो फिर कहना शुरू किया—

इतना ही नहीं मुझ पर हत्या बलवे का केस भी चला। पत्थर का कलेजा ले पड़ा हूँ ! जीते हुए भी मरा हूँ। मृत्यु तो मुझे पूछ नहीं सकती। अजीत बाबा जैसी मेरी महान आत्मा तो है नहीं, मैं तो अब क्रांति का भूखा हूँ। रक्त की एक-एक बूँद के लिए बलि लेना और देना चाहता हूँ। कुछ करके मरना चाहता हूँ ! सारी शांति खोलकर क्रांति हो गयी है। भगवान् ! मुझे एक अवसर दे !

योगेन्द्र ने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहा—

"शान्त हो जाओ श्याम भैया। अवसर मिलेगा !"

योगेन्द्र ने ऐसी और दो-चार कहानियाँ सुनीं। एक दिन अलिया ने अपनी कहानी सुनायी—नेताजी ! (योगेन्द्र को अब बहुधा लोग इसी नाम से पुकारने लगे थे।) हमने आठ खून किये हैं। इस आठवें में दो तीन शूली पर चढ़ाये गये, मुझे दो साल की सजा मिली। वह भी अब पूरी होने को आ गयी। सरकार तो अंधी है, रुपये पास हों, कुछ हथकण्डे मालूम हों, चाहे जो करे। चाँदी के जूते लगे और पुलिस वगैरह पैर पर गिरे। अभी दो खून और करूँगा।

योगेन्द्र ने आवेश से पूछा-"किसका ?"

अलिया—जिन्होंने मेरे खिलाफ चाल चली है।

योगेन्द्र—अलिया ! होश में आ जाओ ! बेगुनाहों की रक्षा करो ! शेर का शिकार करो, गीदड़ों का नहीं। तुम डरपोक हो, हत्यारे हो, बहादुर नहीं, इंसान नहीं ! दूर हटो ! मैं तुम्हारा मुँह भी नहीं देखना चाहता !

अ०—(घबड़ाकर) शेर कौन, इतना बता दीजिये !

यो०—जिसने कितने बेगुनाहों को यहाँ बन्द किया है, जो मनमानी कर रहा है इतने बड़े देश पर। दूर हटो ! खुदा के सामने तू क्या जबाब देगा ?

अलिया का पाषाण हृदय भी वाग्बाणों से बिंध गया। उसकी आँखें खुल-सी गयीं, मानो कोई आकाशवाणी हुई हो। वह हाथ जोड़ बोला —"नेता जी, नेता जी, आप जाइये न, नाराज़ न होइए ! मेरा निस्तार बताइए—आपने मेरी आँखें खोल दीं मेरा निस्तार बताइए, आप पैगम्बर हैं !

यो०—मैं तुम्हारा भाई हूँगा। जिनकी हत्या की है उनके बाल-बच्चों की रक्षा करो। अपने प्राणों की बाजी लगा निरपराधों के प्राण बचाओ। अपने पापों के लिए परमात्मा से रो-रोकर क्षमा माँगो।

वह झुककर बोला—"अपने पैरों की धूल दे दीजिए, सिर पर लगा लूँ, सिर पर लगा लूँ !"

यो०—अलिया, सच्ची मुहब्बत सब कुछ है।

पीछे की कहानियों की ही निराशामयी निविड़ता-सी रात भी अन्धेरी थी। अजीत सिंह ने खिड़की पर झुके हुए योगेन्द्र से कहा—'बेटा, तुमने कई कहानियाँ सुनीं।'

योगेन्द्र—हाँ बाबा, सुनीं। परन्तु वे अनसुनी ही अच्छी रहीं। हृदय बिंध गया।

अजीत सिंह—नहीं बेटा, सुनी अच्छी रहीं। उन्हीं छिद्रों में क्षमता और धैर्य की अभेद्य निगूढ़ गढ़ी बनती है। सब कुछ सहो, सब कुछ देखो - सुनो। तुम यही सोचते होंगे—जैसे यहाँ अन्धाधुन्धी है, वैसे सर्वत्र ही। इसी से कितने लोग नास्तिक हो जाते हैं—नास्तिक तो वे पहले भी रहते हैं—यों स्पष्ट हो जाते हैं।

परन्तु क्या इन घटनाओं के संघटन से यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि हमारे

प्रस्तुत कर्मों के साथ अदृश्य कर्मों की शृंखलाएँ भी रहती हैं, जिन सबके साथ निर्णय होता है। हमारे वर्तमान का ही नहीं, अपितु भविष्य का भी। नहीं तो हम जैसे निर्दोषों को यहां ऐसा दण्ड क्यों मिलता, अथवा घोर अपराधी अदण्ड या अल्पदण्ड पाकर क्यों रह जाते ? मैं जो कुछ कहता हूँ अभी यह मानकर कि कोई सर्वनियंता है जो सर्वज्ञ और न्यायपरायण है। कुछ भी हो, हमारा कर्त्तव्य यही होता है कि हम अत्याचार का निवारण और शिष्टाचार का सम्बर्द्धन करें। जो होता है वह अच्छा-बुरा दोनों है, जो हुआ तथा होगा वह अच्छा ही हुआ और होगा—यह भी सर्वनियंता के नाते मानी हुई बात है।

यो०—जब हम किसी अबोध बालक को, पशु-पक्षियों को पीड़ा में कराहते देखते हैं तो होता है—यह कैसा अन्याय है : भोगनेवाले को उसके अपराध का भान भी न कराया जाना यह कैसी व्यवस्था है बाबा ?

अ०—बहुत खलती है बेटा। अपने हाथों प्रकाश पर अपने ही कर्मों का अन्धकार डालना—यह शास्त्रीय समाधान तो सभी जानते हैं। परन्तु बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के सन्तोष, समाधान होता कहाँ है ?

यो०—वह सर्वज्ञ हमें अपने किए हुए कलुष कर्मों—अपराधों का ज्ञान दे देना तो कितना अच्छा होता।

अ०—कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु उसे सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता मानते हुए उसकी अव्यवस्था, अपूर्णता खटकती है, जब हमलोगों के आफिसों में भी कुछ व्यवस्था रहती है।

यो०—जितने वाद हैं—प्रकृतिवाद, अज्ञातवाद—सब परमात्मवाद की तरह तर्कों से अपना मत सिद्ध ही कर लेते हैं। मनुष्य की शक्ति परिमित है। जब वह किसी परिस्थिति से विवश हो जाता है, तो उसे किसी को सर्वशक्तिमान मान उसकी शरण में जाना ही पड़ता है। विशेषतः इस भय का ही धर्म चल रहा है।

अ०—ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ेंगे, त्यों-त्यों विकास और बोध होता जायगा। हमें निरन्तर समझते रहना चाहिए कि हम न केवल वर्तमान से, अपितु अगाध भूत और भविष्य से भी सम्बद्ध हैं।

यो०—लेकिन आज की दुनिया तो केवल वर्तमान को जानती है।

अ०-वर्तमान ही तो सब कुछ है। लेकिन इतना और समझना होगा कि उसीका भूत और भविष्य भी होता है। अतः हमें वर्तमान को अच्छा बनाना चाहिए।

यो०—बाबा ?

कोई उत्तर न मिला। वे अवाक-से, अचेत-से हो गये। धुँधले में योगेन्द्र ने देखा, वे मूर्च्छित थे। वे सिहर उठे! व्यग्र हो पुकारा-"बाबा! बाबा!"

बाबा कुछ न बोले—"हाय भगवान!' क्या यह बाबा की अन्तिम भेंट है? क्या क्या आशाएँ थीं!" योगेन्द्र के हृदय से एक आह निकल पड़ी। अन्धकार और गाढ़ा हो गया और योगेन्द्र को स्नायविक कम्पन हो गया। बाबा अभी मौन ही थे। परन्तु शायद योगेन्द्र के कुछ शब्द उनके कानों में पड़े और हृदय को हिलाया। उसी समय पास के स्टेशन पर आती हुई डाक-गाड़ी की हरहराहट सुन पड़ी, मानो महा मौनसागर सहसा तरंगित हो गया। उनके हृदय में धक-सा हो गया और उसमें नूतन स्फूर्ति-सी आ गयी। तत्क्षण दो तारे टूटे। जान पड़ा उसी कोठरी में आ रहे हों। बिजली का-सा प्रकाश हो गया। योगेन्द्र ने उस स्वर्गीय प्रकाश में बाबा को देखा। वे विगत-मूर्च्छा हो उठ रहे थे।

बाबा ने देखा कि उनकी बरौनियाँ भींगी थीं। वे बोले—"बेटा, तुम रो पड़े।"

"क्या हो गया था बाबा? मेरी आशाएँ बहुत बड़ी थीं।"

बा०—बुढ़ापे का दौड़ा है बेटा। आज कई महीनों पर ऐसा हुआ। पके हुए फल का कौन ठिकाना? और तुम्हारी आशाएँ तो पूरी होंगी ही। मैं भी तुम्हारे जीवन का वसन्त देखने को रह जाता। लेकिन इसकी चिन्ता मत करो। चाहे जहाँ और जिस वेश में रहूँ, रहूँगा अवश्य।

यो०—बाबा, अभी रहो, अभी रहो। तुम्हारे उँगली का इशारा पाता रहूँ तो पर्वत भी लाँघ जाऊँ, आकाश के तारे भी तोड़ लाऊँ।

बा०—भगवान की इच्छा है बेटा। होने दो जो कुछ हो रहा है। तुम अपनी कहानी लिखना शुरू कर दो। वह विश्व की बहुत बड़ी थाती होगी

और तुम्हारा समय भी कटता रहेगा। बाल्य-काल से लिखना। स्मरणकाल से पूर्व की कहानी जो कुछ सुना हो, लिख देना।

कुछ देर के मौन के पश्चात् बाबा को हँसी आ गयी, जैसे सुदूर आकाश में हँसते हों।

यो०—बाबा यह कैसी हँसी और कहाँ से ?

वे फिर उसी तरह हँसकर बोले—"मेरा दूरातीत शैशव, आज बहुत दिनों पर घर के आँगन से हँस रहा था। मैंने उसका स्वागत किया—हँसा। बड़ी भोली, पवित्र हँसी थी बेटा। फिर होली की रंगरेलियों से मस्तानी, अकड़ती जवानी भी हँसी व्यंग्य हँसी। वह मर्म में चुभी। उसे मैंने बाहर नहीं होने दिया।

यो०—बाबा, वही निर्दोष हँसी तो इस बुढ़ापे में इस योगी की सौम्य मुखाकृति में सदा हँसा करती है।

८

योगेन्द्र ने अपनी कहानी के दस पन्ने लिख डाले। आधी धूप और आधी छाया में बैठे थे। कभी यह अधिक प्रिय लगती, कभी वह। कभी इधर जाना पड़ता, कभी उधर। प्रश्न उठा—वह कौन सा स्थान है जहाँ से सब कुछ प्रिय लगता है, जहाँ से इधर-उधर होने की इच्छा नहीं होती?

फिर देर बाद कुछ सोचकर लिखने ही जा रहे थे कि अपने से चौथी खाली कोठरी में एक नया कैदी देखा जो किसी को ढूँढ़-सा रहा था। आँखें मिल गयीं, छलछला गयीं। इधर से हुआ 'भाभी!' उधर से 'योगेन्द्र।'

'तुम आ ही गयीं।'

"क्या लिख रहे हो?"

"अपनी कहानी। बाबा का आदेश हुआ।"

"कौन बाबा?"

योगे०—बाबा अजीत सिंह। परिचय कराऊँगा। महान् कर्मयोगी हैं।

चन्द्रा०—पास न आ सकोगे?

योगे०—आ सकूँगा। जेलर साहब की कृपा रहती है। वार्डर भी सहृदय है। पिकेटिंग का क्या हाल रहा?

चं०—पुलिस की गहरी डण्डेबाजी से बहुत लोग घायल हुए दहल गये।

यो०—जनता का उत्साह और साहस?

चं०—कुछ आगे को ही है। परन्तु उसमें सक्रियता नहीं है। संघ के भी कार्यकर्ता इने-गिने हैं जो सच्चे हृदय से काम करते हैं। जनता जाग रही है। पर अभी उसमें पर्याप्त त्याग और साहस कहाँ?

रात को सोचते-सोचते योगेन्द्र गा उठे—

हिम्मत को मत हार।
बढ़ता चल तू निडर मुसाफिर, हो जायेगा पार।
अटपट, बीहड़ पथ आने दे, बढ़ने दे सिर भार।

एक साँस भी भरी निराशा करे नहीं अभिसार।
आयेगा अचिंत चौरस पथ पूर्ण प्रकाश-प्रसार।
सपने सत्य बनेंगे, दे बस खुलने अन्तर्द्वार।
हिम्मत को मत हार।

हृदय के अन्तराल से निकलते हुए इस साधारण स्वर ने कितने शिथिल हृदयों को सुस्फुरित कर ज्योति-सी जगमगा दी। कैदी उठ बैठे। श्याम ने कहा—"भैया, कम से कम एक बार और गा जाओ।" अलिया ने कहा—"नेताजी, इसे तीन-चार बार दुहरा दें। पैरों पड़ता हूँ। मेरे पैगम्बर!" समवेत स्वर हुआ—"हाँ हाँ नेताजी, फिर!" अजीत सिंह ने कहा—"बेटा, खूब! यह तो तुम्हारी कहानी में ही अंकित होगा।" चन्द्रा ने अपना कथन अपने ही सुना। परन्तु उसमें एक विचित्र रस प्रवाहित था।

योगेन्द्र ने कहा—अच्छा बाबा। श्याम भैया, क्या मेरा गुनगुनाना अच्छा लगा? भला रोने-गाने कौन नहीं जानता? क्या मैं गाता हूँ? भाई अलिया, तुम मेरे पैरों क्यों पड़ते हो, मुझे पैगम्बर क्यों कहते हो? भाई कहा करना, समझे?"

वे पद दो-तीन बार दुहराये गये। प्रत्येक हृदय गूँज उठा—"हिम्मत को मत हार!"

योगेन्द्र ने देर बाद कहा—"तुम लोग अपने को मनुष्य समझते हो कि पशु?"

"यह कैसा प्रश्न करते हैं नेता जी!"

"पशु के सामने जो कुछ रख दो वह स्वीकार कर लेगा, या छोड़ देगा। पर कभी-कभी वह भी अपनी परिस्थिति से विरोध कर बैठता है। तुममें मैं कोई विरोध नहीं देखता—लोहे के तसलों में खा रहे हो; जो खाद्य सामग्री तुम्हें चाहिए वह भी नहीं पा रहे हो; जो काम तुम्हें न करना चाहिए वह भी कर रहे हो...। पशु के आगे कहाँ हो?"

"नेता जी, हम गहरा आन्दोलन करेंगे, जेल की दीवालें तोड़-फोड़ देंगे, भूखे रहेंगे। बेइमान अहलकारों के सिर फोड़ देंगे और जो आदेश होगा वह करेंगे।"

हिम्मत को मत हार !

योगेन्द्र ने कहा—"अभी सिर न फोड़ो। जो हमें क्लेश दे रहे हैं, हमें पशु समझते हैं, उन्हें दो एक बार समझने का, होश में आने का अवसर दो ! परन्तु इससे यह न समझ लेना कि जो अपराधी हैं उन्हें दण्ड दिया जाना अपराध है। वह वीर नहीं, बहादुर नहीं जो अपने अपराध को स्वीकार कर अपने हाथ से बेड़ी न पहन लें। मेरा आशय है कि अपराधियों के लिये भी जेल मैनुअल ने जो सुविधायें दी हैं तथा देनी चाहिये, उनके अनुचित प्रयोग पर हम क्रांति करें। जो कानून गलत बनाये गये हैं उन्हें हम तोड़ दें।"

सुबह कैदियों की बड़ी स्ट्राइक हुई—न कोई कुछ काम करता, न भोजन। नेताजी की जय ! जननी जन्म भूमि की जय ! ये ही नारे लग रहे थे। जेल तो मानो जन-साधारण के विशाल प्रोसेशन का अड्डा हो गया।

जेलर साहब को पता चला। वे योगेन्द्र और बाबा के पास आये। उन्होंने सब बातें समझायीं। वे बोले—"बात आगे न बढ़े, मैं उचित प्रबन्ध किये देता हूँ। साहब न मानेंगे तो मैं भी आप लोगों के साथ हो जाऊँगा।

साहब ने आकर जेल की विचित्र व्यवस्था देखी। जेलर साहब की बातें तो उन्होंने मान लीं—कैदियों की माँग पूरी की; परन्तु नेता जी के विरुद्ध मन में कुछ ठान लिया।

चंद्रा बैठी थी और योगेन्द्र अपनी कहानी लिख रहे थे। डाकिए ने आकर कहा—'नेता जी, आप के नाम पत्र आया है।" उन्होंने पत्र ले लिया। वह सलाम कर चला गया।

चंद्रा बोली—"मैं पत्र खोलूँ, तब तक तुम लिखते रहो।"

"नहीं भाभी, तुम्हारे विषय में लिख रहा हूँ। अल्प ही शेष है। पूरा होने ही पर खोलो।"

उन्होंने कहा—"मेरे विषय में तुम अत्यधिक भावुकता से लिख रहे होगे।" वह भी कम है भाभी, तुम्हारे स्नेह से।"

पत्र का समाचार अतीव दुःखद था :—

प्रिय बंधु !

इस प्रांत में काम बड़े ही जोश और उत्साह से हो रहा है। परंतु

वर्ग-संघर्ष, साम्प्रदायिक द्वन्द्व, कतिपय नेताओं की उग्र विषम साम्यवादी नीतियों तथा भारतीय संस्कृति और विचारों को कुचलने की चुनौती देनेवाली योजनाओं से प्रगति में बड़ी रुकावट आ गयी है।

कुछ भी हो काम तो करना ही है। अपने सिद्धान्तों पर चलना ही है। तुम्हारे पत्र और कार्य-विवरण से हमें असीम प्रोत्साहन, साहस और स्फूर्ति मिली। भाभी का कुछ सही पता न चला।

एक बात और जिससे, तुम लोगों की तो बात ही न्यारी है, बहुतों को दुःख होगा। परन्तु ऐसा होना न चाहिए। मुझ पर पूर्वीय प्रान्तों के बगावत वाले केस में हत्या और राजविद्रोह का अभियोग चलाया गया है, यद्यपि मैं शांति-स्थापना के ही पक्ष में था। खैर! एक बार बाबा अजीत सिंह के दर्शन हो जाते, तुम से, भाभी से, मिल लेता तो फाँसी के तख्ते पर और अधिक आनन्द आता।

मैं तो शूली के तख्ते पर लटक जाऊँगा, परन्तु मेरा विश्वास है कि बहुत से सत्याग्रही योद्धा सीना आगे किये मार्च करते मैदान में आ जायेंगे। यह पत्र मैं इसलिये लिख रहा हूँ कि मेरे न होने पर आँसुओं का जो अभिनन्दन मुझे मिले वह आशा, उत्साह और आश्वासन से ही भरा हो।

तुम्हारा—

जितेन्द्र

बाबा अजीत सिंह, योगेन्द्र, चंद्रावती और श्याम एक क्यारी में बैठे थे। पत्र बीच में रक्खा था। हाँ, एक बात पत्र में और थी कि वे ही चंद्रदेव सरकारी वकील हैं।

दूसरे दिन उसी मंडली में योगेन्द्र ने कहा—"बाबा विश्वविद्यालय में मेरे बहुत-से साथी इस राजनीतिक क्षेत्र में उतरने को उत्सुक थे। उनमें कितने आई० सी० एस० होकर इंगलैंड से लौटे तो भोग-विलास तथा नौकरशाही के फन्दे में पड़ उनके संकल्प विकल्प हो गये। उनमें भाई जितेन्द्र ही दृढ़ संकल्प रहे। उन्होंने जो कार्य, इतने ही दिनों में किये उससे राष्ट्रीय जीवन में पर्याप्त जाग्रति पैदा हुई। परन्तु क्या जितेंद्र भाई का साथ इतने ही दिनों के लिए था?"

श्याम ने कहा—"भैया यह विश्व पतझड़ के वृक्ष सदृश तो है ही—एक-

एक कर सभी पत्ते झड़ जाते हैं। परंतु वे ही नूतन किसलय बन आते हैं और विश्व को अपनी छत्रछाया दे वे भी चल पड़ते हैं। ऐसा ही हुआ करता है। यह तो स्वतंत्रता का संग्राम है ! न जाने कितनी बलियाँ देनी पड़ेंगी। न जाने कितने लाल लुट जायेंगे ! परन्तु नवजीवन लाने ही के लिये।"

बाबा बोले—"बहुत ठीक कहा बेटा ! हाँ, जो दल-बन्दियों के विषय में कह रहे थे *गर्म दल, नर्म दल, समाजवादी, साम्यवादी-ये मत-मतान्तर तो हुआ करते* हैं। उनकी परवाह तुम्हें न करनी होगी, और न तुम करते ही हो। मूल्य कार्य का नहीं, अपितु उसे प्रेरित करने वाले भाव का होता है।"

यो०—बाबा, सारा विश्व, सारी शक्तियाँ विरुद्ध हो जायँ, परन्तु हमें तो आगे बढ़ना ही है—जिस पथ को हम सत्य मानते हैं, उस पर चलना ही है।

बा०—हाँ बेटा, बस यही।

यो०—बाबा, तुम्हारे सम्पर्क में हमें जो प्रकाश मिलता है वह अन्यत्र नहीं। मेरे भीष्म पितामह ! कुछ दिन इस बुढ़ापे की शरशय्या पर और जागते रहो।

बाबा गम्भीर हँसी हँस पड़े।

दूसरे दिन हवाई जहाज से बहुत से हरे हरे पर्चे गिरे। बहुतेरे जेल के अहाते में भी हलके विचारों की तरह लड़खड़ाते लड़खड़ाते आये। उनमें किसानों, अछूतों और मजदूरों को आश्वासन और आगाही दी गयी थी कि सरकार उनकी सुविधाओं पर विशेष ध्यान दे रही है, वे किसी राष्ट्र-विरोधी दल के बहकावे में न आवें।

दूसरी बात थी निकट भविष्य में शत्रु राष्ट्रों के आक्रमण से इस देश की रक्षा के लिये सरकार की अपनी हवाई शक्ति खूब बढ़ा लेने की।

सुबह का कुहरा फट गया, उड़ गया क्षीण संकल्प एवं अनिश्चित, स्वार्थपूर्ण कायर आन्दोलनों की तरह। योगेन्द्र अपनी कहानी लिखने बैठ गये। दो पन्ने के बाद कलम रुक गयी, सविता का ध्यान आ गया, जिसका कोई पता नहीं। इस समय योगेन्द्र जेल में नहीं, राष्ट्रीय आन्दोलनों में नहीं, किसी अधिवेशन में नहीं, किसी कान्फ्रेंस में नहीं, अपितु युनिवर्सिटी के उस उद्यान में थे जहाँ से इस पुस्तक का श्रीगणेश हुआ और वहाँ जहाँ सविता को अपनी अंगूठी पहनायी

और उनकी पहनी—प्रेम के संसार में जहाँ कोई द्वन्द्व नहीं था। देखा अंगूठी की ओर—'सविता,'—वही सविता जो उनके हृदय में घूम रही थी हँस-हँस, आँसू भर-भर, और जिसे वे देख नहीं रहे थे।

वे मन में कहने लगे—"सविता, क्या मेरे इस संसार से तुम्हारा संसार अलग रहेगा ? तुम्हें मैं गति-गति में, रति-रति में क्यों नहीं पाता ? देश रक्त चाहता है और तुम मेरे आँसू !"

दो बूँद आँसू—एक अंगूठी पर और एक 'मेरी कहानी' पर—टपक पड़े। चन्द्रा पीछे खड़ी थीं। कहा—"योगेन्द्र ! इन्हें ही देखने के लिए मैं तरस रही थी। सोचा रक्त में आँसू भूल गये। देवरानी की बात तुमसे कभी न सुन मुझे निराशा हो रही थी।"

यो०—भाभी, तूने इस जेल को भी घर बना दिया। तुम यहाँ कब से खड़ी हो ?

च०—भागीरथी के निकलने के पहले ही से।

यो०—इतनी प्रसन्न आज हो भाभी ! क्या सचमुच तुम्हें मेरे भूल जाने का विश्वास हो गया था ?

च०—हाँ, कुछ ऐसा ही।

योगेन्द्र आँसू की गिरी हुई बूँदें पोंछने चले। चन्द्रा ने रोक दिया और कहा—"इन्हें अपने मन से समाने दो देवर !"

योगेन्द्र ने स्निग्ध, सलज्ज हास से कहा—"भाभी, आज मेरे लिये यह देवर। एक और रहा बबुआ ! इन्हें बचाकर रक्खा था बड़े यत्न से।"

चन्द्रा हँस पड़ी। योगेन्द्र ने कहा—"अच्छा भाभी, इन आँसुओं की कहानी भी तो लिखनी होगी। लो इसे तुम लिख डालो।"

चन्द्रा लिखने लगीं।

एक दिन बाबा खिड़की पर हाथ रक्खे खड़े थे। न जाने कहाँ देख रहे थे—जिधर देख रहे थे उधर नहीं देख रहे थे। वे आँखों से उस समय देखते हुये भी नहीं देख रहे थे, मन से कोई महा विश्व देख रहे थे। चन्द्रा वहीं खड़ी थीं। बोलीं—"बाबा !" वे कुछ न बोले, ज्यों के त्यों देखते रहे। वह आश्चर्य, विस्मय और श्रद्धा से चुप-चाप उनकी ओर देखने लगीं। वे वैसे ही देखते रहे।

योगेन्द्र भी आ गये। उन मुग्ध दृष्टियों को देख वे भी विस्मित रहे।

बोले—"भाभी ! बाबा !" चन्द्रा ने उनकी ओर देखा; परन्तु बाबा वैसे ही देखते रहे। तोप के गोले धमाधम छूटे—एक-दो-तीन-चार—हृदय को दहाड़ते हुये—; परन्तु बाबा ज्यों के त्यों रहे !

चन्द्रा ने भयभीत हो कहा—"योगेन्द्र !" योगेन्द्र ने धड़कते हुये हृदय से बाबा के कन्धे को धीरे से हिलाते हुये कहा—"बाबा ! बाबा !" साथ ही दो का घंटा भी बजा घन ! घन !

वे जाग पड़े, बोले "बेटा ! तुम कब से हो ? अरे यह देखो ! चन्द्रा, क्या तुम्हें आँसू आ गये ? ओह ! तुमने समझा कि बाबा मरे !" इतना कह वे हँस पड़े – न जाने किस अन्तराल की वह हँसी थी—समझ में न आयी ! वे फिर बोले—"जहाँ तक मेरा विश्वास है, मैं तुम लोगों को धोखा देकर न जाऊँगा।"

चन्द्रा आश्वस्त हो बोलीं—"ऐसा ही हो। परन्तु मौन हो क्या रहस्य देख रहे थे बाबा ?"

बा०—अभी न बताऊँगा बेटी। योगेन्द्र ने पूछा—"क्यों बाबा ?"

बा०—उसका और अच्छा अवसर होगा।

× × × ×

बड़ा ही मटमैला, धुँधला दिन था वह जब योगेन्द्र ने समाचार पत्र के पन्ने उलटते हुये एक बड़ा ही भयानक कालम देखा। शीर्षक था—धरना देनेवालों की हत्या ! कांड का विवरण देते हुये निहतों के नाम भी दिये गये थे। पहला नाम था सविता देवी का।

वह विशाल मानस भी वैसा ही धुँधला हो गया। नवयुवक कर्मयोगी का हृदय हिल गया, मानो उसके नीचे डाइनामाइट रख आग लगा दी गयी हो। बाबा अजीत सिंह, उस हृदय की गूढ़ गद्दी में रहने वाले बाबा अजीत सिंह, मानो प्रकट हो अप्रतिहत, संवेदनशील, आश्वासनमयी मुद्रा में कहने लगे—"बेटा, हिलो मत ! तुम-से ही शूर-वीर ऐसे बलिदान कर सकते हैं। तुम, चन्द्रा, जितेन्द्र, सविता—ऐसे अनुपम बलिदान ले किस देश की स्वतन्त्रता, किस जन्म भूमि का जौहर, किस विश्व का वैभव विलीयमान रह सकता है ? आँसू न रोको—मानवता की कोमल लड़ियों को—प्रेम के तरल मोतियों को—ढुलक जाने दो वहाँ जहाँ वे जीवन को उत्सर्ग बना दिया करते हैं।"

योगेन्द्र ने देखा किसी भी तोप के गोले, किसी भी एटम बम को सह लेना, किसी भी विभीषिका से विचलित न होना उतना कठिन नहीं जितना सविता जैसे जीवन-साथी का साथ छूट जाना। उसके मन में हो रहा था, ऐसे आघात भी सहने होंगे ?

चन्द्रा और श्याम भी आ गये। दुःखद समाचार ने उन्हें भी पराभूत कर दिया। चन्द्रा सिहर उठी, शरीर सन्न हो गया !

योगेन्द्र ने एक मथी हुई दीर्घ निःश्वास छोड़कर कहा—"तो सविता की अन्त्येष्टि क्रिया बाबा।"

बाबा ने कुछ रुक कर कहा—"सभी शहीदों की अन्त्येष्टिक्रिया, युद्ध समाप्त होने पर, साथ ही होगी, यह तुम लोगों की परीक्षा का समय है, डिगना मत। सफलता तुम्हारी है।"

९

अदालत में आज जितेन्द्र के ही केस की सुनवाई होनेवाली थी। सबूत आज ही समाप्त होने को था। कार्यवाही प्रारंभ, परंतु सरकारी वकील, चन्द्रदेव अभी तक न आये। विकट प्रतीक्षा हो रही थी। न्यायाधिकरण, जनता, वादी-प्रतिवादी सभी उद्विग्न थे। जज साहब अब ऊबने लगे, खीझने लगे और क्रोध भी करने लगे। सारे सबूत का कागज-पत्र वकील साहब के ही पास था। जज साहब ने दो अर्दली उनके बँगले पर भेजे। वहाँ भी पता नहीं। समीपवर्तियों ने कहा—"कल शाम को तो थे, फिर पता नहीं।" नौकरों ने भी यही बताया। तारीख टल गयी—एक, दो, तीन, चार—न जाने कितनीं। परंतु उनका पता न चला। न्यायाधिकरण कोई कार्यवाही न कर सका। पुलिस ने फिर प्रमाण देने का प्रयत्न किया, परंतु सब कुछ कच्चा, कृत्रिम ठहरा। परिणामतः केस न चल सका।

कांग्रेस जन-धन दोनों में बढ़ रही थी। जैसे बरसात में बादल का एक टुकड़ा फैलते-फैलते आकाश को ढँक लेता है, वैसे ही इस संस्था का भी प्रसार होने लगा।

योगेन्द्र अब जेल से बाहर थे। सावन की रात आधी बीत चुकी थी, परंतु वे अभी मन्द-मन्द प्रकाश के साथ जाग रहे थे। भीषण गर्जन हो रहा था। रह-रह बिजली भी कौंध जाया करती और वायु के प्रबल झँकोरे प्रकृति के अंग-प्रत्यंग को झकझोर दिया करते। उनके मस्तिष्क में अनेकों समस्याएँ चक्कर काट रही थीं। वे सब पर विचार कर रहे थे। एक चिकित्सक के सामने आहतों की आकुल भीड़ आ रही थी। वह अकेला-सा थोड़ी मरहम-पट्टी के साथ किनके-किनके घावों पर हाथ लगाता ? इतना ही नहीं, उसे अपने और अपने आहतों के प्रबल शत्रुओं से अपनी तथा उनकी रक्षा भी करनी थी।

कभी-कभी उन्मत्त वायु के झँकोरे उनके अंतर्विश्व में भी प्रवेश कर उनके विचारों को पुलिस तथा सैनिक दल की भाँति कांग्रेस के सत्याग्रहियों, असहयो-

गियों की तरह छिन्न-भिन्न, क्षत-विक्षत कर देना चाहते, परंतु वे टस से मस न हो पाते।

नवयुवक कर्मयोगी का शरीर अथक परिश्रम और चिन्तन से जर्जर-सा हुआ जा रहा था। परंतु मुख-मण्डल में स्वर्ण की सी कांति झलक और दिव्य दीप्ति दीपित हो रही थी। चन्द्रा पीछे खड़ी उस विचार-विलीन मुद्रा को स्पर्श कर रही थीं। रह-रह कर उनकी लंबी-लंबी साँसें अनजान खड़ी चंद्रा के हृदय को हिला-सी देतीं।

सब समस्याएँ तो कुछ न कुछ सुलझी-सी; परंतु सविता ? लो, वह नवयुवक की आँखों के सामने हँसती हुई सी और फिर कुछ आँसू लिये हुई सी और फिर न जाने कैसे अज्ञात सैनिक सी आ खड़ी हुई ! अरे सविता !—यों कह नवयुवक का हाथ आगे बढ़ गया। परंतु शून्य आकाश तथा काल्पनिक छाया पकड़ी न जा सकी। उनके नेत्रों से आँसू ढुलक कपोलों पर आ गये। सविता फिर आ खड़ी हो गयी और मानो उन्हें पोंछते हुए उसने आश्वस्त, सौम्य मुद्रा में कहा—"यह हूँ मैं बलिदानों में, आहों में, आँसुओं में, तुम्हारे प्राणों में मेरे प्राण !"

सचमुच कोई उदार, प्रेमिल हाथ उन आँसुओं को पोंछते हुए उन कपोलों पर मिला। उसे पकड़ते हुए योगेन्द्र ने कहा—"सविता !"

"सविता नहीं, चन्द्रा—दिन नहीं रात।"

यो०—"भाभी ! तुम तो मेरे गगन में उषा सी आ गयीं।"

योगेन्द्र की मुद्रा सहसा बदल गयी। वे आलोकित हो बोले—"भैया के जीवन में विशाल परिवर्तन हुआ जान पड़ता है।"

आशा और प्रेम के आँसुओं से आर्द्र हो चन्द्रा ने कहा—"हाँ !"

× × × ×

कल ही संघ का अधिवेशन था और अधिवेशन के प्राण योगेन्द्र अधिवेशन स्थान से सैकड़ों मील दूर ! यही तीन बजे रात की ट्रेन न मिली तो पहुँचना असंभव।

दो का घण्टा बज गया। बूँदें पड़ रही थीं। चन्द्रा और योगेन्द्र ने ओवर कोट ऊपर रक्खा, हैंडबेग उठाया और स्टेशन को रवाना हो गये। गाड़ी मिल

गयी। वह वात्याचक्र को फर-फर चीरती, झक-झक करती पार्थ-शर के समान चल पड़ी। एक–दो–तीन–चार–स्टेशन पर स्टेशन पीछे भागते गये, विकल्प होनेवाले संकल्प की तरह, स्वार्थपूर्ण राष्ट्र की नीतियों और आर्डिनेंसों की तरह।

तीन-चार स्टेशन और रह जाने पर गाड़ी, चालक के असावधानी से शायद, पटरी से अलग हो गयी, बचाते-बचाते मरोड़ उठी, परंतु कुछ ऐसा रहा कि हत तो कोई हुआ ही नहीं, आहतों की भी संख्या बहुत कम थी। हमारे नेताओं का बाल भी बाँका न हुआ। परंतु इस दुर्घटना से अधिवेशन में पहुँचना कठिन हो गया। पर उन्होंने हिम्मत न हारी। वे आहतों को अस्पताल भेज तुरंत पैदल रवाना हो गये। एकाध मील जाने पर एक नदी पड़ी। भला इस सहस्त्र फन के समान फूत्कार करनेवाली बरसाती नदी को वे कैसे पार करते ? परंतु यह ट्रेन रुकनेवाली न थी, जब तक इसका कोयला-पानी चुक न जाता। दोनों नदी में कूद पड़े। सीधे पार होना चाहा, परंतु फू मारते हुए प्रवाह ने राष्ट्र के दमनकारियों की तरह गर्व के साथ कहा—"इधर से नहीं जा सकते जहाँ से बड़े-बड़े गजदंती बह गये।"

वेगवती धारा उन्हें पुलिसवालों की तरह पकड़ कर न जाने किस कारा में नजरबंद करने ले चली। वे पास ही पास बहते चले। कभी-कभी एक दूसरे को देख लिया करते। कुछ दूर पर जलियाँवाला बाग के समान भयानक एक भँवर मिला। उस क्रूर चक्र में योगेन्द्र ने चन्द्रा का अंचल पकड़ लिया। वहाँ उनकी कहानी समाप्त ही होने जा रही थी, परंतु प्रारब्ध चक्र के सामने उस चक्र की एक भी न चली—धारास्त्र—गोली कान के करीब से पास हो गयी।

कुछ आगे जा एक नक्र मिला। उसे ठीक सामने आते देखकर भी उन्हें रोमांच न हुआ। चन्द्रा ने कहा—"अब ?" "आने दो जो कुछ आता है। निःशस्त्रीकरण योजना सफल न होगी तो हमलोग युद्ध करेंगे।" योगेन्द्र ने दृढ़ता से कहा। तब तक ऐसा प्रवाह आया कि वे बहुत दूर निकल गये। नक्र ने उन पर आक्रमण करने तथा प्रवाह से होड़ लगाने की कोई चेष्टा न की।

अधिवेशन स्थान उस नदी के किनारे ही था। वहीं पास आकर वे सकुशल एक वृक्ष की जड़ में लगे। शीघ्र ही बाहर आये, तैरने का श्रम तो कुछ भी

नहीं करना पड़ा था, परंतु प्रबल तरंगों के थपेड़ों से चूर-चूर हो गये थे। परंतु बीस मिनट के ही विश्राम से उनमें चलने की शक्ति आ गयी।

इधर अधिवेशन में सहस्त्रों आँखें एक-टक उन्हीं को देख रही थीं। ज्यों ज्यों आशा मंद होती जाती, त्यों त्यों सभी सजावटों—झंडों तथा तोरणों आदि की स्वागतपूर्ण आकृति मुरझायी जा रही थी। कितने उत्सुक छोड़ बैठे और कुम्हलाये जा रहे थे। किंतु थोड़ी ही देर में अभिवांछित आकृतियाँ दिखायी पड़ गयीं। नयी ज्योति जग गयी। सबकी तंद्रा जाती रही। सबकी आँखें खुल गयीं। जय-जयकार होने लगा! जितेन्द्र ने आगे बढ़कर उनकी अभ्यर्थना की। संक्षेप में कुशलक्षेम हुआ। समाचार सबको सचिंत और फिर चिंतामुक्त कर समाप्त हुए। उनके कपड़े बदल चाय-पानी हुआ।

तदुपरांत अधिवेशन की कार्यवाही प्रारंभ हुई। प्रार्थना आदि के पश्चात् कई नेताओं के भाषण हुए। सबने अपनी अपनी योजनाएँ कहीं। जितेन्द्र और देवी चंद्रावती के भाषण हो जाने पर योगेन्द्र की बारी आयी। उत्सुक जनता तथा सभासदों में एक नूतन स्फूर्ति-सी दौड़ गयी।

उन्होंने जो कहा उसका संक्षिप्त यह है—

"महानुभावों, भाइयों तथा बहनों! हम लोग कई वर्षों से मैदान में उतरे हुए हैं। अपने अधिकारों के लिए, स्वतंत्रता के लिए, न्याय-युद्ध कर रहे हैं। न्याय-युद्ध—इसे स्मरण रक्खेंगे हम लोग। यह हमारा एक विशेषाधिकार रहा है और रहना चाहिए। हम लोग अपने विचारों के अनुकूल कितने दलों में विभक्त हो गये हैं—ऐसा होता भी है—ऐसी प्रारम्भिक अवस्थाओं में तो अत्यधिक। परन्तु एक ही वस्तु हम भिन्न-भिन्न भाँति से चाह रहे हैं। एक ही मंदिर है, रास्ते कई हैं।

मेरा अपना अनुभव और विश्वास है और अनेकों महानुभावों के विचारों से इसे प्रमाणित भी पाया है कि जबतक विशाल अन्तर्जाग्रति, अन्तरभ्युदय और अन्तःक्रांति नहीं होती, तब तक कोई साधना, कोई अनुष्ठान पूरा नहीं हो सकता। हमारे भीतर से ऐसा धक्का लगना चाहिए कि हमारे जीवन की गाड़ी भक-भक कर खुल जाय। कोई बाहर से हमें सशक्त नहीं कर सकता। रस्से में बाँधकर

खींचने से गाड़ी में कौन-सा वेग आ सकता है? हमें जो चाहें मिल सकता है। चाह अपनी राह बना लेती है। सच्ची लगन होनी चाहिए।

हम क्या कर सकेंगे, इसकी चिंता छोड़ दें। हम क्या कर रहे हैं और किस भाव से—यही सब कुछ है।

हमें अपने विगत प्राचीन से घृणा और उपेक्षा न होनी चाहिए जैसा कुछ लोग में है। अपने स्वर्णातीत से जो प्रकाश, जो शक्ति हमें मिलती है, उससे ही हम आगे बढ़ सकते हैं। जिस संस्कृति ने, धर्म ने हमें बतलाया है कि सब कुछ आत्मा ही है—मैं नहीं समझता, कौन-सा वाद, कौन-सा संघ उससे आगे जा सकता है तथा अधिक आलिंगनप्रिय और सर्वग्राही हो सकता है।

आज जो संग्राम हम लोग करना चाहते हैं उसे अपने पूर्वजों से ही पाया है। विभीषण के पूछने पर राम ने जो अजय दल, जो अटल विजय, के साधन बतलाये हम वही होना चाहते हैं और उसी पर चल पड़े हैं। हमारे राम, कृष्ण बुद्ध, गांधी उस एक ही आत्मा के प्रतीक होते हैं।

अहिंसात्मक संग्राम के लिए हिंसात्मक संग्राम की अपेक्षा अधिक क्षमता, निर्भीकता, तैयारी, दृढ़ता और साहस की अपेक्षा है। यह युद्ध सबलों का है, अबलों का नहीं। यह आत्म-बल से ही हो सकता है, शारीरिक बल से नहीं।

हम किसी जाति, देश तथा धर्म को अपने से भिन्न होने तथा घृणा के लिए घृणा नहीं करेंगे। हमारा बन्धुत्व देश और रक्त के नाते न होकर प्रेम और आँसू के नाते होगा। हम जिससे लड़ रहे हैं उससे अबन्धुत्व के कारण नहीं; अपितु उसके अत्याचारों एवं अनाधिकारों के कारण। हम उन्हें भी घृणा नहीं करेंगे।

हम भिन्न-भिन्न टोलियाँ बनाकर चलेंगे जिससे भिन्न-भिन्न विभागों को ऊपर उठा सकें। सभी सोनेवालों को जगाना है। सभी शिथिल हृदयों को स्पंदित करना है।

हम लोग, जिन्होंने अशेष शताब्दियों तक अखिल विश्व के ऊपर अपनी विजय-वैजयंती फहरायी है, उसे अपनी छत्र छाया में विश्राम दिया है, स्वयं जल रहे हैं और गुलामी की बेड़ियों को अपना आभूषण समझ बैठे हैं। यह मैं वीरों की संतानों से कहता हूँ—राम, कृष्ण, राणा प्रताप, भामाशाह की संतानों से

कहता हूँ—'वीरो ! जाग जाओ ! गुलामी की काली चादर फेंककर कह दो—हम स्वतंत्र हैं ! हम स्वतंत्र हैं !'

× × × ×

किसानों, मजदूरों, अछूतों तथा दीन-दलितों के उन्नयन, उत्थान के लिए नवीन आयोजन बनाये गये। सुधारवादियों, संधिस्थापकों का अविश्वास कर उनसे संपर्क हटाया जाने लगा। साहित्योत्थान पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। योजना यह थी कि अन्यान्य अर्थकर व्यवसायों से साहित्य-सेवा आर्थिक दृष्टिकोण से, कम-से-कम, न्यूनतर न रह जाय, चाहिए तो उसे उच्चतम होना। यद्यपि साहित्य-निर्माण की मूल प्रेरणा में कोई आर्थिक भावना नहीं रहती, तथापि उसके निर्माता जो सदा विश्व की, देश की संस्कृति—जीवन अमर रखते हैं, विश्व के मरुस्थल में आनंद की मंदाकिनी बहाते हैं, उनका जीवन ऐसा अर्थहीन हो—यह देश के लिए लज्जा की बात है और उसके अधःपतन, घोर अधःपतन का कारण और प्रमाण है। साहित्य संस्कृति का निर्माता, नियंता, अभिरक्षक, रूप-प्रदर्शक और पथ-प्रदर्शक है।

१०

स्वतंत्र हो जाओ !–का जो स्वर देश की हृत्तंत्री में फूँका गया वह उसकी मीड़-मीड़ में भर निरन्तर गुनगुनाने लगा। किसानों की सभाएँ होने लगीं। कभी-कभी दो से दस-दस सहस्र जनता की उपस्थिति रहती। योगेंद्र चंद्रा के साथ मीलों चलकर उनकी सभाओं में शामिल होते और उनकी दैनिक जीवन-चर्या देखते। उन्होंने इतना दुर्वह भारावनत, दायित्वपूर्ण, रूखा-सूखा जीवन किसी का न पाया। सरकार-जमींदार, पण्डे-पुजारी, साधु-वैरागी सबके मानों ये ऋण खाए बैठे थे।

कहीं-कहीं लगान वसूली के तरीके देख उनके रोंगटे खड़े हो जाते—हाथ-पैर बाँध वे पिटे जाते और उनकी सम्पत्ति भी ले ली जाती। परन्तु अब उनमें कुछ स्वतंत्र चेतना तथा एकता का भाव आने लगा। अब वे पिटे जाने को तैयार न थे।

अथक, अविराम श्रम से अखिल विश्व का भरण-पोषण करनेवाले किसान भूखों मरें, कंकालों-से ठुकराये जाते फिरें, जीवन के सुख से सर्वथा वंचित रहें, कितना अन्याय, कितनी लज्जा, कितनी घृणा और अमानवता का विषय है! जितना अपव्यय, अन्यान्य विभागों में किया जाता उसके अल्पांश में ही कृषि-प्रधान इस देश में कृषि के इतने साधन हो जाते कि यह भारत भूमि प्रत्यक्ष में भी स्वर्ग हो जाती।

कूँएँ, नहरें, सड़कें, इंजन—क्या हुआ ? कुछ भी तो नहीं। सरकार से कानून तो सभी बने, कृषि-उन्नायक आयोजन भी, परंतु व्यर्थ, उनका व्यवहार तो होता ही नहीं।

चैत का महीना था। प्रकृति के जीवन में वसंत आया था—रोम-रोम में उल्लास और उमंग थी। सरस रसाल की मंजरियों के मधु-मरंद से अखिल वातावरण प्रपूरित हो रहा था। हमारे नेता योगेंद्र चंद्रावती के साथ सरिता-तटवर्ती एक गाँव के समीप सुंदर अमराई के निकट चादर बिछा बैठे थे।

संध्या का समय था। प्रकृति की इस रमणीयता में वे अपने विचारों को, समस्या के भार से लदे हुए विचारों को रमण करा रहे थे, विहंगों का कल-कल गान सुना रहे थे, मधु-मंजरियों की मधु-धारा में नहला रहे थे।

गगन के अदृश्य सज्जाकार ने संसार को सोने के पानी से नहला उस पर तम की काली चादर तान दी। परंतु थोड़ी ही देर में उसे खींच शुभ्र, सुवासित, सुआर्द्र श्वेत दुकूल ओढ़ा दिया—चन्द्रोदय हो गया। उसी समय योगेन्द्र के मानस-क्षितिज में भी एक चाँदनी का उजाला हो गया। वे जैसे चौंक पड़े। एक लंबी साँस बाहर निकली तम और ताप-समूह-सी। चंद्रा ने उनकी ओर देखा। वही प्रकाश उनके भीतर भी छिटक गया। कुछ देर देखते रहने के बाद वे योगेंद्र के कंधे पर अपने हाथ और कपोल रख झुक गयीं।

योगेंद्र विचार-विलीन थे इस समय। कुछ देर में धीरे से 'अच्छा यही सही', कुछ निश्चयात्मक भाव से कहते हुए कहा—"भाभी, तुम थक गयी हो, मेरे ऊपर शीश रख कुछ देर तक सो रहो। भूख भी तो लगी होगी।"

"न नींद लगी है, न भूख! तुम चाहो तो सो लो और मैं तब तक कुछ खाने का प्रबंध कर लूँ, फिर प्रकृति की शोभा तुम्हारी आँखों देखूँ।" चंद्रा बोलीं।

यो०—मेरी आँखों!

तब तक कोयल बोली—कू! कू! पर कहीं-कहीं सुन पड़ा हू! हू!

यो०—कोयल कूक रही है भाभी, मानो हूक रही है!

हम, हमारे बच्चे······हाय······अब······! भगवान् तुम्हें दयासागर कहते हैं······देखा नहीं······कुछ भी हो······न्याय ······तुम्हीं करना।" वे इन अस्पष्ट शब्दों से चौंक एक दूसरे की ओर देखने लगे।

यो०—कोई नदी के किनारे···। चलो भाभी, अभी चलें। कोई दुर्घटना अवश्य है!

एक पुरुष, उसकी स्त्री, एक-एक बच्चा गोद में लिये तीर पर विलीन, निराश मुद्रा में खड़े थे। वे नदी में डूबने ही जा रहे थे कि चंद्रा और योगेंद्र जा पहुँचे। पूछा—"तुम कौन हो? इतनी रात को यहाँ कैसे?"

वे०—आप पुलिस हैं क्या? भालू से प्राण बचे तो शेर के पंजों में पड़े!

क्या आप मरने भी न देंगे? मुकदमा चलाएँगे ! परंतु मरनेवाले को क्या डर !

यो०--हम पुलिस नहीं हैं। तुम मरते क्यों हो ?

वे०—मरें न एकही बार, कलट-कलट, घुल-घुल मरें जीवन भर बाबू जी ?

इतना कहते-कहते उसकी घिग्घी बँध गयी। वे सभी सिसकने लगे। वे द्रवित हो उनके आँसू पोंछने लगे। दुखियों ने ऐसी सहानुभूति, ऐसी दयार्द्रता कभी न देखी थी। आश्वस्त होने पर उन्होंने फिर पूछा—"क्यों मरते हो ? तुम्हें क्या दुःख है ?"

वे—जो कुछ है दुःख ही है ! हम क्या जानें सुख किसे कहते हैं। चन्दे की वसूली में मालिक के नौकरों ने चमड़ी उधेड़ ली ! तीन दिन खाये हो गया। ये बच्चे ···।"

वे फिर सिसक पड़े ! अपना शरीर खोल दिया। बीसों साटें पड़ी थीं। घाव अभी हरे थे। स्त्री के शरीर पर भी चोटें थीं। बच्चे कातर स्वर में बोल उठे—"माँ को, बाबू को कोए छे बउत माओ, बहुत माओ !" यों कह वे भी सिसकने लगे।

योगेंद्र और चंद्रा के हृदय बाहर निकल आये। साहित्य के कितने पन्ने करुण रस में डूबे देखे थे, परंतु उसकी प्रत्यक्ष प्रतिमा आज देखी। बच्चों को गोद में उठा उनके आँसू पोंछते बोले—"मेरे लाल रोओ न, हृदय हृदय से न बह जाने दो। दयानिधे ! यह तेरी दया का कौन-सा रूप है ? क्या तेरे प्रति सभी धारणाएँ कल्पनामात्र हैं ? कर्म की कौन-सी व्यवस्था इन अबोध बालकों की यंत्रणा में यथार्थ है ? तेरा रहस्य कैसा है ? रक्त में नहा लेना, आँसुओं में डूब जाना—हम मनुष्यों के लिए क्या इतनाही है ? हम न कुछ समझ सकें, न कुछ कर सकें, अज्ञात कर्म—अज्ञात नियति-चक्र में पिसा करें ?"

चंद्रा और योगेंद्र ने अपने अंचल और कुर्ते का छोर फाड़कर उनके घावों पर बाँध दिया और कुछ सूखे हुए घावों पर धीरे से हाथ फेर कुछ सोचने लगे।

मनुष्यों ! यदि दीन-दलितों के आँसुओं में तुम सिसक-सिसक कर न रोये,

आहतों के आघातों पर आह-आह कर पट्टी न बाँधी, पीड़ितों की पीड़ा में कराह-कराह रातें न बितायीं, श्रमिकों के पसीने पर अपना रक्त न बहाया, तो तुझे धिक्कार है, सौ-सौ बार धिक्कार है !

सुख के नशा में झूमने वाले ! एक बार तुम चिन्ता की घनी छाया में बैठ मूक आँसुओं की कहानी पढ़ते, आहों के गीत सुनते, भूख-प्यास से मुरझाए, श्रम से चूर, सुख से दूर हुए श्रमिकों, निरीहों के साथ कंकड़ों पर सोते, तो देखते यह दुःख तुम्हारे सुख से कितना अधिक मीठा है, इसके अंधकार का प्रकाश तुम्हारे प्रकाश के प्रकाश से कितना अधिक आलोकमय है, इसका अधिकार तुम्हारे अधिकारों से कितना अधिक महान् है ।

तीर्थों की खाक छानने वाले ! एक बार तुम इन आँसुओं में नहा लेते, आह-आह करते हुए हृदयों में झाँक लेते तो तुम्हें ज्ञात हो जाता कि त्रिवेणी कहाँ हैं, इष्टदेव का मन्दिर कौन है ?

वे मुमूर्ष तो जागते हुए भी स्वप्न देखने लगे । एक अपरिचित की ऐसी सहानुभूति, ऐसा स्नेह—जो केवल माता ही के लिए संभव हो—स्वप्न न था उन्हें, तो क्या था ? बच्चे रह रह कर अपरिचितों की ओर कातर दृष्टि से देख लिया करते । उनकी भोली चितवन कह रही थी—"मेरे माँ-बाप तुम हो ।" उनकी स्नेहमयी गीली दृष्टि में वे सिहर-सिहर समा रहे थे ।

वह स्त्री और पुरुष अपने मन में परमात्मा को, जमींदार को—तालुकदार को कोटिशः धन्यवाद दे रहे थे, जिनकी कृपा से, जिनके हाथों वे चोटें आयीं, जिनसे उन्हें देव-देवियों के दर्शन हुए । वे विनीत, अति विनीत, कृतज्ञ, मुग्ध भाव से बोले—"बाबू जी, आप लोग कौन हैं ?"

वे—हम तुम्हारे भाई हैं, सेवक हैं । ये हमारी भाभी हैं ।

वे—क्या आप हमारे नेताजी हैं, नेताजी ? इतना कह वे पैरों पर गिर पड़े । उन्होंने उन्हें उठा लिया ।

× × × ×

तालुकदार साहब, जिनके नौकरों ने उन्हें पीटा था, अपनी बारहदरी के सामने उपवाटिका की खसखसी घासवाली गोली क्यारी में समृद्ध पुरुषों की वर्तुलाकार मण्डली से घिरे हुए एक आराम कुर्सी पर बैठे सटकदार गुड़गुड़ी पी रहे थे ।

सामने टेबुल पर पानों और तरह-तरह के सिग्रेटों के सोने, चाँदी तथा अखरोट आदि जंगली लकड़ियों के सुंदर डिब्बे रक्खे थे। इलेक्ट्रिक मूविंग फैन बड़े वेग से चक्कर काट रहा था मानो वह भी उनके आतंक से आतंकित था। रेडियो गा रहा था और बातें भी हो रही थीं; कांग्रेस, सत्याग्रह, असहयोग, सुधार आदि की हँस-हँस धज्जियाँ उड़ायी जा रही थीं। परंतु वह हँसी एक प्रकार की आशंका और क्षीण भय से खाली न थी।

समृद्ध समुदाय ने सामने दो बच्चों के साथ दो स्त्रियों तथा पुरुषों को आते देखा। पहले समझा असामी चले आ रहे हैं, संवालों से भरे हुए, बहकाए हुए। सबकी त्योरियाँ बदल गयीं। परंतु थोड़ी ही देर में वे ढीले हो गये। सब लोग उठ गए और आगे बढ़कर कहा—"नेताजी! कैसे कष्ट किया आपने? आज यह कुटी पवित्र हो गयी।"

वे आर्द्र भावों से भरे अवाक् खड़े रहे। लोग कुछ समझ न पा रहे थे। लोगों ने आग्रह किया—"चलिए, विराजिए।"

योगेन्द्र ने चन्द्रा का हाथ पकड़ आगे करते हुए कहा—"आप अपना हंटर ले लीजिए।"

तालुकदार साहब ने विस्मित हो पूछा—"हंटर क्या होगा नेता जी?"

योगेन्द्र—हमारी और इन देवीजी की चमड़ी उधेड़ने के लिए।

तालुकदार—क्या कह रहे हैं नेता जी! आप को क्या हो गया है?

यो०—यही यहाँ का स्वागत-सत्कार है राजा साहब!

उस पुरुष और स्त्री के शरीर खोल वे साटें, वे घाव दिखलाते हुए बोले—"देखिए और इन निरीह बच्चों से पूछिए। इनकी आँसुओं से गीली और आहों से कंपित कहानी सुनिए! अपनी श्रीमतीजी तथा अपने बच्चों को इनकी परिस्थिति में देखिए। क्या ये बच्चे आप के नहीं हैं? क्या आप का कुटुंब इसी छोटी-सी चारदिवारी के भीतर सीमित है? क्या ऐश्वर्य मानवता को भी ठुकराता फिरता है? इन सोने के डिब्बों के पानों, इन अट्टालिकाओं का ऐश्वर्य, इन ऐंठी हुई मूँछों की शान जिनसे है, उनकी यह दशा! आह!"

योगेन्द्र और चन्दा की आँखें भरभरा गयीं। राजासाहब भकभका उठे,

योगेन्द्र से लिपट गये और उनके कंधे को गीला कर दिया। रानी साहबा भीतर से निकल आयीं और चन्द्रा से लिपट गयीं।

आश्वस्त होने पर राजकीय दंपति ने उन बच्चों को—जिन्हें छूते भी न—गोद में ले आई और आलोकित हो कहा—"आज से ये बच्चे हमारे हैं, हमारा सब कुछ इनका है। कल इसकी रजिस्ट्री करा देंगे और हम लोग प्राणिमात्र की सेवा करेंगे, कहीं एकांत में भगवद्भजन करेंगे। हमें आप क्षमा कर दें।"

योगेन्द्र बोले—"राजासाहब ! इन बच्चों को आप की कृपा ही पर्याप्त है। जब इन्हें आप ने अपना समझ लिया, तो शेष ही क्या रह गया? रजिस्ट्री की कोई आवश्यकता नहीं।"

रानी साहबा ने कहा—"नहीं, नेता जी, ऐसा ही होने दीजिए। हम अपना सब कुछ कांग्रेस तथा संघ को देकर आप लोगों के साथ रहेंगे, देश की हँसी में हँसेंगे, आँसू में रोएँगे।"

योगेन्द्र ने कहा—"भाभी, सब कुछ ऐसे ही रहेगा। संघ ने, देश ने आज क्या नहीं पा लिया? दो बूँद आँसुओं की मधुकरी माँगते फिरते थे, वह आज जैसी कहीं न मिली ! हमें उन मोतियों की नहीं, इन मोतियों की आवश्यकता थी। संसार का दुर्भिक्ष उन मोतियों से नहीं, इन मोतियों से दूर होता है। आज हमारे कमण्डल में रत्नाकर समा गया !"

भाभी—ऐसा मधुर संबोधन ! इस एक शब्द ने रानी साहबा को जो सुख दिया, वह उन्हें इतने बड़े ऐश्वर्य ने कभी न दिया था। चन्द्रा और वह स्त्री बच्चे घर में गये और योगेन्द्र और राजा साहब भ्रातृस्नेह में बहने लगे।

११

जिस प्रगति से हमारी नागरी भाषा का साहित्य अपनी भिन्न-भिन्न शाखाओं—आख्यायिका, उपन्यास, नाटक, कविता आदि में बढ़ रहा था, वह किसी भी प्रगति को चकित करनेवाली थी। परंतु साहित्यकारों की ऐसी दुर्गति, ऐसी उपेक्षा शायद ही कभी रही हो। इनकी दशा भारत के किसानों से भी गयी-बीती थी।

मधुकर जी की रचनाओं की इतनी हस्तलिपियाँ हो गयी थीं कि कभी-कभी वे निराश हो जाते। वह निराशा थी द्रव्य की नहीं, उनके अप्रकाशन की। जब कभी अध्ययन के लिए पुस्तकों तथा कागज के लिए द्रव्य की अनिवार्य आवश्यकता आ जाती, तो धनाभाव भी खटक जाता और तब वे प्रेसों का एकाध चक्कर लगा आते।

आज सुबह पहले पहल वे साहित्य प्रेस में गये। मालिक से भेंट हुई, बातें होने लगीं—

मालिक—कहिए, कैसे कृपा की?

मधुकर—कुछ पुस्तकें हैं, उनका प्रकाशन चाहते हैं।"

मा०—पुस्तकें! आप की लिखी? कहा हैं?

एक कविता की पुस्तक और एक उपन्यास झोले से निकाल मधुकर जी ने उन्हें दिया। दोनों के एकाध पन्ने झूठे ही उलट-पुलट कर प्रकाशक महोदय ने कहा—आप की कोई पुस्तक प्रकाशित भी हुई है?"

म०—जी नहीं।

मा०—"इधर तो हम लोग सीज़न (ऋतु) के काम में लगे हुए हैं।

म०—सीज़न का काम क्या?

मा०—पाठ्य पुस्तकों तथा छोटी छोटी किताबों—हनुमान चालीसा, डायरी कजली आदि-आदि का प्रकाशन—जिनकी जनता में माँग है। चीजें आप की अच्छी हैं, परंतु आप की ख्याति हिंदी संसार में नहीं है, और ऐसी चीजों की खपत भी तो नहीं होती।

म०—जनता विष माँगे तो उसे वही दिया कीजिए। उसमें सद्साहित्य द्वारा सद्विचार और सुरुचि उत्पन्न कीजिएगा तब काम चलेगा न। अर्थ लोभ से आप लोग समाज को नीचे गिरा रहे हैं, इस पर भी कभी ध्यान जाता है आप लोगों का ? समाज की अभिरुचि जब परिमार्जित और समुन्नत हो जायगी तो आप लोगों का आर्थिक लाभ भी न्यूनतर न रहेगा। आप लोगों का यह वैयक्तिक आर्थिक प्रश्न तो इस नैतिक तथा सामाजिक प्रश्न के समक्ष गौण ही है, इसमें तो कोई संदेह नहीं है।

मा०—तो ऐसा प्रकाशक तो आप को कोई न मिले शायद। कोई भी व्यवसायी किसी भी पुस्तक तथा वस्तु को व्यावसायिक दृष्टि से ही देखेगा।"

म०—सच पूछिये तो किसी भी व्यवसायी को इस नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण की उपेक्षा न करनी चाहिए। ऐसा करता है वह, तो वह समाज-संहार जैसे अपराध का अपराधी है। कोई भी प्रकाशक ऐसा नहीं है, यह मैं जानता हूँ। परंतु सभी प्रकाशक ऐसे हों, यही मैं चाहता हूँ। समाज के प्रति आप भी अपना दायित्व समझें। यदि कोई ऐसा नहीं है और कोई अपना दायित्व नहीं समझता तो देखिए आपका समाज है कैसा! मैं फिर फिर कहता हूँ समाज के प्रति समाज का प्रति व्यक्ति अपना दायित्व समझे, अपनी दृष्टि का प्रसार करे। आप लोग प्रकाशक हैं प्रकाश फैलाने के लिए, परंतु फैलाते हैं अंधकार। ओह!

वे झेंप कर बोले—"क्षमा कीजिएगा, इस समय मुझे बड़ी शीघ्रता है, फिर भेंट होगी। नमस्कार।"

म०—नमस्कार।

हितैषी प्रेस के मैनेजर से भेंट हुई। पन्ने उलट-पुलट वे ही प्रश्न पूछे गये। सीजन की अड़चन दिखाई गयी। पर वास्तव में अड़चन तो थी कि पुस्तकें 'मेला घुमनी,' 'सावन की बहार' और डायरी आदि न थीं।

सुधा-संचारक प्रेस के अध्यक्ष ने पुस्तकें देख कर कहा—"आप इनका प्रकाशन कैसे चहाते हैं ? पहला ही प्रकाशन आपका होगा, सम्भवतः।"

म०—जी हाँ, पहला ही। आप जैसे भी प्रकाशन कर सकें—रायल्टी पर, सर्वाधिकार अपने लिए सुरक्षित कर, या और भी जैसे हो।

अध्यक्ष—देखिए, मैं स्पष्ट कहता हूँ—"अवसर पा पुस्तक अवश्य प्रकाशित करूँगा और जो कुछ भी पत्र-पुष्प हो सकेगा..... ।"

म०—इसका कुछ नाम भी तो होना चाहिये।

अ०—जो कुछ भी हो जाय।

म०—अर्थात यों ही।

अ०—अच्छा क्षमा कीजिएगा। नमस्कार।

म०—नमस्कार।

मधुकर जी के कुछ दूर जाने पर अध्यक्ष महाशय के किसी मित्र ने—जो वहीं शुरू से थे—कहा—"बड़ी अच्छी पुस्तकें हैं। कोई ख्यात लेखक होता तो हजारों का मोल होता। सौदे का चला जाना अच्छा नहीं। चाहे जैसे हो फँसा लो।"

अ—अभी वे न जानें कितने चक्कर लगाएँगे, घूम-फिर कर आएँगे ही। थक कर आएँगे और प्रेस की अपनी इच्छा पर छोड़ देंगे।

प्रायः सभी प्रेस छान डाले। थोड़े से हेर-फेर के साथ एक-सी ही व्यवस्था सर्वत्र रही। कितने साहित्यिक महारथियों के पास भी गये, जिनकी सलाह से प्रेस प्रकाशन के लिए पुस्तकें लिया करते और जो साहित्य को आगे बढ़ाने की अपेक्षा अपने ही नाम को बढ़ाने के फेर में रहा करते। कितने तो इच्छा और शक्ति रहते हुए भी कुछ न करते। कितने कुछ करने में अपनी मानहानि समझते। और इन महाशयों को कोई पुस्तक अपने सम्मति-प्रकाशन, तथा आलोचना के लिए दी जाती तो उस पर दो चार साधारण सधे-सधाए वाक्य लिख देते जो न तो किसी आलोचनात्मक निर्णय पर पहुँचे रहते, न रचयिता के व्यक्तित्व के उद्घाटन में सप्रयास तथा सफल प्रयास रहते।

मधुकर जी खिन्न से, हताश से लौट रहे थे। हमारे नेता जी चंद्रा के साथ उनसे मिले। उन्हें जानते तो सभी थे बच्चे-बच्चे तक, परंतु पहचानते सब न थे। उस सौम्य, विचारशील, भावुक मुद्रा में खिन्नता और नैराश्य की गाढ़ी छाया देख नेता जी ने पूछा—"आपका शुभ परिचय?" उन्होंने बतलाया। फिर पूछा—"आप कहाँ से आ रहे हैं और इतने खिन्न क्यों हैं?"

अपनी सारी दिनचर्या कह उन्होंने पूछा—"आपको मैं क्या समझूँ जो इतनी सहानुभूति के साथ मेरे दुख-सुख को जानना चाहते हैं ? मुझे तो जैसे साक्षात् महाकाव्य के दर्शन हो रहे हैं !"

नेता जी ने अपना कुछ ऐसा-वैसा परिचय बताते हुए कहा—"यहाँ सबसे बड़ा प्रेस साहित्य प्रेस ही है न ?"

म०—"जी हाँ !"

योगेन्द्र—आप हमारे साथ आइए। साहित्य प्रेस में हमारा भी कुछ काम है।

तीनों व्यक्ति साहित्य प्रेस चले। कार्यालय में उन्हीं एक सज्जन से भेंट हो गयी जिनसे मधुकर जी आज ही कुछ पूर्व मिले थे। योगेन्द्र ने एक हस्तलिपि जिसे उसके रचयिता ने उन्हें देखने को दिया था, उनके हाथ में दी और रचयिता का नाम योगेन्द्र बताया।

प्रकाशक महोदय ने पूछा—"कौन योगेन्द्र ?"

यो०—अरे आप इतने बड़े नेता को नहीं जानते ?

प्रकाशक—'नेता जी। ओ !"

"हाँ तो कैसे इसका प्रकाशन चाहते हैं ?"

यो०—कम से कम पाँच हजार लेकर तीन संस्करणों का सर्वाधिकार आप को देंगे।

प्र०—अच्छी बात है।

तब मधुकर जी की पुस्तकें दिखा कर पूछा—"इसका क्या दे रहे हैं ?"

"पत्रं-पुष्पं।" मधुकर जी बोल उठे।

उनकी ओर देख योगेन्द्र ने कहा—"न साहब ?"

"जी हाँ, इन्हें प्रकाश में ला देते हैं, यही क्या कम है !" प्रकाशक महोदय बोले।

यो०—मधुकर जी की पुस्तकें तो इससे कहीं ऊँची है।

प्र०—लेकिन मधुकर जी जो नेता जी से बहुत नीचे हैं।

यो०—आप मधुकर जी की रचना से प्रयोजन रखते हैं, या मधुकर जी तथा उनकी ख्याति से ?

प्र०—इतने बड़े नेता के विचार भी असामान्य होंगे।

यो०—आपने उनकी रचनाओं के गुण-दोष की तुलना भी की है?

संदिग्ध, संकुचित और झेंप की मुद्रा से उन्होंने कहा—"मैंने देखा तो है। खपत का सवाल जो सबसे बड़ा है।

योगेन्द्र ने एक लंबी साँस ले कहा—"भला देश और समाज को आपसे क्या आशा हो सकती है? आप सभी लोग खादी पहनते हैं, देश-भक्त बनते हैं। धिक्कार है इस ढोंग पर! ऐसी चीजों को आप समाज के सामने नहीं रखते और एक साधारण-सी पुस्तिका का पाँच हजार दे रहे हैं! समाज को गर्त में झोंकते हुए आप लोगों को कोई हिचक भी नहीं होती? कोई साहित्य प्रेस होता, कोई प्रकाशक होता तो साहित्य के बहाने असाहित्य और प्रकाश के बहाने अंधकार का प्रचार और प्रसार न होता। किसी स्वतंत्र देश, किसी शिक्षित मानव समाज में ऐसी पुस्तकों का कम से कम दस-दस हजार मिलता।"

प्रकाशक महाशय ने कुछ आवेश में आ पूछा—"आप कौन हैं महाशय? आपने कौन-सी देश-सेवा की है? हम लोगों से तो कुछ भी न बन पड़ा।"

यो०—"मेरा नाम तो योगेन्द्र है, जिसके नाम का मूल्य आप ५००० दे रहे हैं।

तब लोगों ने साश्चर्य देखा उस कर्मयोगी की मुद्रा में व्यापक आत्मीयता तथा महान् कर्मनिष्ठा का अमल आलोक जगमगा रहा था। वे पैरों पर गिरने चले। नेता जी ने उन्हें उठाकर कहा—"यदि आप मेरे प्रति श्रद्धा रखते हैं तो देश, समाज तथा समस्त प्राणिमात्र के हित में अपना हित समझिए।"

उन्होंने स्वयं मधुकर जी की पुस्तकों की भूमिका लिखी और साहित्य प्रेस ने अच्छी शर्तों पर उन्हें प्रकाशनार्थ ले लिया। नेता जी ने कहा—"मधुकर जी, आप अखिल भारतीय संघ के कार्यालय में आइए। दस हजार का पुरस्कार आपको दिया जाता है। यद्यपि यह भी तुच्छ है।"

वे बोले—"आपका आदेश, आपकी कृपा शिरोधार्य है। परंतु वह पुरस्कार मैं अपनी ओर से देश-सेवा के निमित्त संघ को ही दे रहा हूँ। संघ के सामने अभी बहुत बड़े-बड़े प्रश्न हैं, उसे जन-धन की अतीव आवश्यकता है।"

यो०—संघ यह पुरस्कार आपको देकर देश-सेवा ही में वह धन लगा और आपके रूप में विशेष जन-समुदाय को अपना रहा है।

× × × ×

कुछ भोजन कर, थोड़ा विश्राम ले योगेन्द्र ने कहा—"भाभी, आज की मेरी कहानी लिख लो तो कुछ बातें हों। अभी उतनी रात भी नहीं बीती और ये तारे ऊँघने लग—क्यों ?"

चन्द्रा—"तुम्हारा अथक श्रम देखते-देखते वे थक गए। अच्छा मैं लिखती हूँ, तुम देखते जाओ। लेकिन मेरी देवरानी (सविता) के प्रति अपनी भावनाएँ तो बता दो।"

यो०—आज जब मैं प्रातःकाल ओस के मोतियों को किरणों को चुनते देखा, कलियों को खिलते देखा, फूलों को हँसते देखा, अपना सर्वस्व दे हँस-हँस झड़ते देखा; मधुकर जी को खिन्न देखा तो सविता को सिहरते, सकुचते, विहँसते और मुरझाते देखा। मेरे कानों में कोई गुनगुना कर मेरे रुदन को संगीत कर देता है; मेरे शिथिल डगों में कोई सुस्फूर्त डग भर देता है; मेरी आँखों की नीरसता में कोई सरसता घोल देता है; मेरी शिथिल हृत्तंत्री को कोई बजाकर विश्व-राग गाने लगता है—कोई कौन्—वही सविता और तुम ?

चंद्रा लिखने लगीं, मानो अपने ही भावों को। कई पन्नों पर श्याम मोतियों की लड़ियाँ लरज गयीं। अंतिम शब्द समाप्त कर एक लंबी साँस परित्यक्त करते हुए उन्होंने कहा—"जीवन के प्रेम-काव्य में विश्व-विभीषिकाओं के बीहड़ परिच्छेद क्यों घुसते जाते हैं ?"

योगेन्द्र बोले—"मानो कोई उससे द्वेष कर उसे कटु बनाने के अभिप्राय से । भाभी, मुझे मधुकर जी फिर-फिर स्मरण हो जाते हैं। सोना पीतल के भाव भी नहीं भँज पाता ! मधुकर जी किसी पुस्तक को पूरा करने में, यदि वह पर्याप्त परिश्रम, उत्साह, लगन एवं अबाध्य अवकाश से लिखी जाय तो, कम-से-कम चार-पाँच-छः वर्ष लग जाएँगे और मूल्य उसका दस-बीस, दो-चार सब, अधिक से अधिक कुछ हजार ! इस पाँच-छः वर्षों के अवकाश में व्यापारी, कानूनी व्यवसाय वाले सहस्रों, लाखों तथा करोड़ों की पूँजी बना लेंगे; और जिनसे

बनाएँगे उन्हें ऐसी ही वैसी चीज देकर——देश को ठगकर अथवा लड़ना-झगड़ना सिखलाकर और वे, जो देश, समाज तथा विश्व को एक अमर थाती दे जाते हैं, संसार के मरुस्थल में मंदाकिनी बहा जाते हैं, ऐसे तुच्छ पुरस्कार पाते हैं! हमारी दुनिया, हमारा समाज कितना कृतघ्न, दुर्विचार और दुर्वृत्त है! कितनी अंधाधुंधी है!"

चन्द्रा ने झुककर खिड़की से देखा कि स्वच्छ गगन काले-काले बादलों से घिर गया और हवा हू हू कर चलने लगी! वे बोलीं—"यही अराजकता... !"

× × × ×

संघ की आगामी बैठक में योगेन्द्र ने एक आयोजना पास करायी। उसके अनुसार, कवियों तथा लेखकों की कृतियों का प्रकाशन संघ के अपने ही मुद्रणों से होने लगा और उन्हें यथोचित (संघ की आर्थिक अवस्था के अनुसार) पुरस्कार भी दिये जाने लगे। संघ ने यह भी घोषित कर दिया कि हम लोग उसी दिन को लाने में लगे हैं जब हम अपने साहित्य, साहित्यकारों तथा अन्यान्य अमूल्य रत्नों का उचित आदर कर सकेंगे।

१२

मुझे अपने विद्यार्थी जीवन की एक कहानी याद आ रही है:—मैं कालेज में पढ़ता था। विश्वनाथ के मन्दिर का वार्षिक शृंगार और उत्सव था। आराध्यदेव और मंदिर सुंदर वस्त्राभूषण तथा दीपकों से जगमगा और सुगंधि से सुगंधित हो रहे थे। बड़ा ही मनोरम और पुनीत दृश्य था वह। आज भी मेरी आँखों के सामने ज्यों का त्यों है। सभी लोग दर्शन कर, नैवेद्य चढ़ा प्रसाद पा रहे थे। बाहर थे तो बहुत से अछूत, परंतु उनमें से एक ने, जो सबसे अलग था और इधर-उधर झुककर, बैठकर, झाँककर ईष्टदेव के दर्शन करने में व्यस्त था, मुझसे गिड़गिड़ाकर कहा—"बाबू, क्षमा करें तो एक निवेदन करूँ।"

मैंने विनीत भाव से पूछा—"क्या है, खुशी खुशी कहो।"

वह बोला—"बहुत भीड़ है, भगवान के दर्शन नहीं होते। मैं अछूत हूँ, मेरा नैवेद्य, बिना किसी से कहे, आप भगवान तक पहुँचा देते।"

इतना कह वह मेरे पैरों पर गिरने चला। मैंने उसे उठा लिया। बड़े आग्रह से हाथों में उसका नैवेद्य और आँखों में उस अछूत पूत पुजारी के आँसू ले मन्दिर में गया और ईष्टदेव को चढ़ाया। कुछ आँसू भी स्वतः चढ़ गए। प्रसाद ले लौटा और उसे दिया। वह कृतकृत्य हो गया। जिन आर्द्र अन्तःकरण के शब्दों में मेरे प्रति उसने अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट की, आशीर्वाद दिया, जय मनायी, उससे आज भी मेरा रोम-रोम आर्द्र है, मेरा हृदय अभिभूत है! वह मूर्त अनुराग और श्रद्धा आज भी मेरी आँखों के सामने है। उसने मेरे जीवन में तीव्र प्रगति दी। उस अछूत के मंदिर में मुझे जिन ईष्टदेव के दर्शन हुए, अन्यत्र कहीं न हुए। मेरी आँखों की अंजलि में उसके आँसुओं का जो नैवेद्य चढ़ा वह कदाचित् सभी नैवेद्यों से पहले भगवान को मिला। वे प्रेम-मुग्ध हो गये। और शायद केवल वही नैवेद्य उन्हें मिला भी।

प्रति दिन, प्रति वर्ष सहस्रों नैवेद्य चढ़ते हैं; परन्तु वे चढ़कर भी नहीं

चढ़ते ! परन्तु उस अछूत के नैवेद्य हाथोंहाथ न चढ़कर भी चढ़ गये। भूखे भगवान उसे पा तुष्ट हो गये। बाबा हरिजनदास, जिन्हें आप सभी लोग जानते हैं, और जिनके दर्शन से सहस्रों पुनीत होते हैं, वे ही हैं।

इतना कहते-कहते नवयुवक कर्मयोगी की आकृति जगमगा गयी। उस असाधारण जगमगाहट में—सौम्य आलोक में—देवालय में—कोई अछूत कोई पराया नहीं था। उन्होंने फिर कहा—"हमें यही आशा है कि हम लोग इन अछूतों के नैवेद्य भगवान तक पहुँचने देकर अपने को पुनीत बनाएँगे। अंत में इतना विश्वास दिला देना चाहते हैं कि हम वही धर्म—वही सुराज स्वराज चाहते हैं जिससे राम ने शबरी को अपनाया, कृष्ण ने विदुर का साग खाया, राणा प्रताप ने भीलों को गले लगाया; जिससे दशानन और दुर्योधन का नाश हुआ; जिससे बाघ-बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं; जिससे माँगे वारिद देहिं जल और जिससे अर्जुन ने पाताल से जल निकाला और स्वर्ग तक बाणों की निसैनी लगा दी।

धर्म की दुहाई देनेवालों को जानना चाहिए कि धर्म क्या है? चूल्हे-चौके में, न छूने में, घृणा करने में ही धर्म माननेवालों को कुछ भी तो समझ होनी चाहिये ! ये मन्दिर में न जायँ, इनका छुआ पानी न पिया जाय—यही सब धर्म है !

× × × × ×

'ब्राह्मण सावधान !' शीर्षक लेख का यह थोड़ा सा अंश है। इस लेख ने बड़ी सनसनी फैलायी थी। ब्राह्मणों के प्रति विशेष व्यंग की बातें यहाँ नहीं दी जा सकी हैं।

१३

घर पर अभी चन्द्रा और योगेन्द्र चर्खे पर सूत ही कात रहे थे। कुछ सूत कात, कुछ किताबें लिख, कुछ ऐसे-वैसे फल-फूल से वे अपनी जीविकावृत्ति के लिए उपार्जन कर लिया करते। यद्यपि संघ का कोष उनका अपना ही था, पर उसका तथा उन्हें वैयक्तिक रूप में उदार, शिष्ट धनिकों द्वारा साग्रह दिए गये धन का एक पैसा भी वे अपने वैयक्तिक व्यय में नहीं लगाते थे।

चरखा बन्द कर भोजन करने ही जा रहे थे कि त्रिपाठीजी के नौकर ने आकर कहा—"नेताजी, आपको फोन पर बुलाया है। २४३ नं० से कोई बातें करना चाहता है। वे तुरंत फोन पर गये। रिसीवर कान से लगाया और बातें होने लगीं। बातों का कुछ पता न चला; क्योंकि जो कुछ सुन पड़ा वह इतना ही था—हाँ, हाँ;...तो गये क्यों नहीं,...कमीटी की रिपोर्ट;...कोई डर नहीं;... निरापद तो कुछ है नहीं...। हाँ उनकी मुद्राओं से विषय की गंभीरता अवश्य प्रगट हो रही थी।

१५ मिनट बाद घर आये तो डाकिये ने एक चिट्ठी दी। खोलकर देखा, बाबा अजीत सिंह की चिट्ठी थी। लिखा था—

प्रिय योगेन्द्र !

तुम्हारे दूर होने से बड़ा सुनसान लगता है। परंतु यह भी अच्छा है। तुम्हारे मंगल समाचार से बड़ा हर्ष और तुम्हारे कार्यों के विवरण से बड़ा संतोष होता है। जान पड़ता है नयी दुनिया हमारी ओर चली आ रही है, नया प्रकाश फैला आ रहा है। परंतु अभी बहुत कुछ करना है, बहुत बलियाँ देनी हैं, जिससे और जिसके लिए तुम, मेरा विश्वास है, अविश और असन्नद्ध नहीं हो।

पूरी तत्परता और सरगर्मी के साथ काम कर रहे हो तुम। तुम्हारी जिज्ञासा प्रबल है, अतः तुम्हारी अभिलाषा पूरी होकर ही रहेगी। इसी तरह आगे बढ़ते जाओ। तुम वीरों की संतान हो, वीर हो।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा चल रहा है। बहुत संभव है तुम्हारे साथ कुछ दिनों तक रह सकूँ। चन्द्रा को आशीर्वाद। तुम दूर रहकर भी जैसे अपने ही में हो। ऐसे ही तुम्हें भी होगा। सर्वेश मंगल करें।

शुभेच्छु—
अजीत सिंह

१४

आज चन्द्रा और योगेन्द्र एक कृषक गृहस्थ के चत्वर पर ठहरे थे, जहाँ उनसे कोई भी परिचित नहीं था अर्थात् उन्हें पहचानता नहीं था। गृह के वृद्ध ने पूछा—"बाबाजी क्या भोग लगाइएगा, वह सामग्री आ जाय ?"

यो०—हमारे पास सामान है, कुछ बना लेंगे।

वृद्ध—ऐसा कैसे होगा ? हमारे घर पर आप अपना सामान बनाएँ।

यो०—कोई चिन्ता नहीं। हम लोगों के पास कुछ नहीं रहता तो जहाँ रहते हैं वहीं का कुछ पा लेते हैं।

भोजन से निवृत्त हो एक कम्बल डाल वे कुएँ पर पड़ रहे। योगेन्द्र ने कहा—"भाभी, कोई कविता सुनाओ। वह हस्तलिपि नहीं है जिसमें तुमने सुंदर कविताओं का संग्रह कर रक्खा है ?"

चन्द्रा०—"होती भी तो कैसे पढ़ी जाती ?"

तब तक कृपक के छोटे से दालान में कुछ ग्रामीण इकट्ठे हो गये। वे धीरे धीरे कुछ बातें करने लगे। कान लगाने पर कूँएँ पर से सुन पड़ता था—

—ये हैं कौन ?

—न पूरे साधु ही हैं, न पूरे गृहस्थ ही। रंग-रूप से तो बहुत बड़े राजा-बाबू जान पड़ते हैं, परंतु रहन-सहन से कुछ वैरागी से हैं।

—देखो भाई, आजकल किसी को टिकने नहीं देना चाहिए। कितने साधु, कितने पढ़े-लिखे बाबू सुंदर-सुंदर वेश बना डाका, चोरी, ठगहारी—यही

सब करते हैं और कितने तो खाने ही के लिए घूमते हैं। किसी का विश्वास नहीं। खा-पी चुके, कह दो किसी दूसरी जगह जाकर सो रहें।

वृ०—अरे तुम लोग अतिथि को भी ऐसा कहते हो! ओह! समय बदल गया! जिनकी पूजा होती थी वे भगाये जा रहे हैं! अब कोई साथी नहीं रह गया। दुनिया दूसरी हो गयी!

—बाबा, तुम तो वही पुरानी बातें करते हो। अब किसी का विश्वास नहीं। हमलोग पैदा करते हैं अपने लिए कि देश भर के भिखमंगों के लिए?

—हम तो किसी को भीख भी नहीं देते, टिकने की कौन कहे।

—हाँ नेतालोग आवें तो खूब खुशी से टिकावें। अब हम-लोगों का समय लौटेगा।

—सच मानो रियासतों, जिमीदारों और धनिकों का दिवाला निकल जायगा। उनकी जमीन और धन सबको बाँट दिया जायगा। सब लोग बराबर हो जायँगे। दस्तावेज लिखे-लिखाये रह गये, किसी को कुछ देना पड़ता है? सौ-दो-सौ का दस-बीस देना ही पड़ा तो क्या? देखो कोई किसी के बहकाने से जिमीदार, महाजन को कानून के अलावा एक पैसा भी न दे। केवल इस गाँव में दस-बीस हजार देने से बच गये हमलोग। कांग्रेस हमें बचाती है और उन्हें बरबाद करती है।

—कांग्रेस को ही हम वोट दिया करेंगे। पूड़ी-मिठाई खाते हैं सरकारी लोगों की, वोट देते हैं कांग्रेसियों को। अब गये ये हमीदार-जिमीदार।

वृ०- जिसे भगवान न बरबाद करेगा, उसे आदमी क्या करेगा? ऋण इस जन्म में न दोगे उस जन्म में, उस जन्म में न दोगे उस जन्म में दोगे—बैल होकर भरोगे बेटा! बिना भरे छुटकारा नहीं। पहले बात पर रुपए दिये जाते और एक पैसे की बेइमानी न होती। अब तो लिखा-लिखाया कागज चाट जाते हैं लोग। कांग्रेस क्या हुई, देश को बेइमानी सिखा गयी। हाय रे जमाना!

—बाबा, तुम तो वही...। उस जन्म की कौन जाने क्या होगा! और दूसरा जन्म होता है, यह कौन जानता है?

—उन्हें बकने दो, अपना काम देखो। अब तो हमें दो ही काम करने

हैं—उनकी फसल काटना, उनके मकान जलाना। चलो कुछ गाना-वाना सुन एक चक्कर खेतों का लगाया जाय।

चंद्रा योगेन्द्र की ओर और वे उनकी ओर देखने लगे। उनका माथा ठनक गया। योगेन्द्र लंबी साँस ले बोले—"भाभी, आज की दुनिया कहाँ है ? बुड्ढे की बात सुनो और इन जवानों की !"

चंद्रा ने एक दीर्घ निःश्वास परित्यक्त किया।

तभी नवजवानों और लड़कों की एक भीड़ कुएँ पर आ गयी, एक ने कहा—'बाबाजी सो गये क्या ? कुछ भजन-वजन, आल्हा-वाल्हा न सुनाइएगा ?'

यो०—अभी जाग रहे हैं। आओ बैठो। आल्हा-ऊदल की कहानी जानते हैं, आल्हा गाने तो नहीं जानते। आल्हा और भजन सुनकर क्या करते हो ?

कोई—सुनते हैं और करते हैं क्या ?

यो०—बस सुनते हो और सुनकर यह नहीं सोचते कि हम भी आल्हा-ऊदल की तरह बहादुर हों। राम-भरत के भजन सुनकर ललकते नहीं कि हम भी उन्हीं जैसे प्रतापी, त्यागी, निर्लोभी और अनुरागी हों ?

तब तक आध मील की दूरी पर भयानक अग्निकाण्ड का उजाला दीख पड़ा। पड़-पड़, तड़-तड़—अरे वह तो मानो महा समर का भयावह दृश्य था ! योगेन्द्र ने चकित हो पूछा—"कहीं आग लगी है क्या ? अरे यह तो भीषण अग्निकाण्ड है !"

तब तक काली की सहस्रों रक्त-रंजित जिह्वाओं-सी लप-लप कर लपटें आकाश चूमने लगीं।

गाँववालों ने कहा—"किसानों के जत्थों ने जिमीदार की कोठी जलायी होगी।

बड़ा अच्छा हुआ। अब तो ऐसा ही होगा बाबाजी ! हमलोग भी ऐसा ही करेंगे। आप भी तो कांग्रेस को ही मानते होंगे ?"

यो०—'चुप रहो अत्याचारियो ! ऐसा करोगे तो तुम भी जला दिये जाओगे ! बेइमान, निर्दयी, आततायी कहीं के !"

वे चकपकाये-से, सहमे-से रह गये और वे तुरंत काण्डस्थल को चल पड़े। उनके पहुँचते-पहुँचते लपटों की जवानी हो चुकी थी। सैकड़ों आदमी लट्ठ ले चारों ओर खड़े थे। जिमीदार के दो बच्चे स्वाहा हो चुके थे। सयानों और

स्त्रियों की भी आहुति होने ही जा रही थी। योगेन्द्र ने कड़ककर कहा—"खबरदार आततायियो ! अनर्थ कर दिया तुम लोगों ने ! ऐसी ही आग में जलना होगा तुम्हें भी पापियो !"

नेताजी, नेताजी कह सारी भीड़ सन्न हो गयी। उन्होंने कहा—खबरदार, जो हमें फिर नेता कहा ! हम गरीबों के, पीड़ितों के, न्यायियों के नेता हैं न कि तुम आततायियों के ! फिर वे मौन हो गये, चन्द्रा मौन हो गयी ! स्तब्ध मौन, मानो निष्प्राण !! फिर ज्वाला की ओर बढ़े, मानो उसी में जलने जा रहे हों ! कितने पकड़ने चले। चन्द्रा ने कहा—"तुम लोग छुओ भी न हमें हत्यारो !"

जिमीदार और उनकी स्त्रियाँ बढ़ीं, रोती-विलपती।

यो०, च०—बस हमें जल जाने दो ! साँप को दूध पिलाने का प्रायश्चित्त करना ही है।

स्त्रियाँ नहीं नेताजी, आपलोग नहीं जलेंगे। जलेंगे तो साथ ही हमलोग भी जल जाएँगे ! जल तो गये ही, जब हमारे प्यारे बच्चे जल गये ! पर यह राख जलेगी फिर !

चन्द्रा और योगेन्द्र निस्तब्ध हो गये फिर—न कुछ कहना-सुनना, न हिलना-डुलना—अवसाद की करुण प्रतिमा !

× × × × ×

एक ही कमरे में इधर चन्द्रा, उधर योगेन्द्र अचल बैठे थे। तीन—चार पाँच—छः—सात दिन हो गये ज्यों के त्यों, न एक दाना अन्न, न एक बूँद जल ग्रहण किया। देश में चारों ओर सनसनी फिर गयी—नेता और नेत्रीजी ने बहुत बड़ा अनशन किया है। बहुत से लोग मनाने आये, पर शिव-पार्वती की समाधि न टूटी। प्रति समय भीड़ लगी रहती। अस्थिमात्र काया और बन्द आँखें थीं, पर आकृति से एक विचित्र कांति निकल रही थी। देखनेवाले आँसू बहा रहे थे। देश और विश्व की उज्ज्वल आशा जैसे दलदल में धँसी जा रही हो, स्वाधीनता, संग्राम की नाड़ी छोड़ती जा रही हो ! जितेन्द्र को छोड़ प्रायः सभी प्रमुख नेता उस समय जेल में थे।

"बेटा, तुम आ गये ? मैं याद ही कर रहा था। बहुत बड़ी परिस्थिति का सामना है। यह पत्र और तुम काम कर लोगे। है न ?" अजीत सिंह बोले।

जितेन्द्र—हाँ बाबा। तो मैं रवाना!

जितेन्द्र तुरंत रवाना हो गये। परंतु पुलिस ने उन्हें रास्ते ही में कोई झूठा आरोप लगा पकड़कर बन्द कर दिया। कदाचित् वह योगेन्द्र के प्राणान्त पर ही उन्हें छोड़ती। इस घटना को कोई जान भी न पाया, इसका कुछ अनुमान भी न कर पाया। खलबली मच गयी। सभी शहरों में हड़तालें हो गयीं। आज बीसवाँ दिन था अनशन का। अब तक जितेन्द्र न जाने कहाँ थे, आज जेल में लाये गये आठ बजे रात।

जितेन्द्र ने जेलर के निकट बुलाकर कहा—"आपको अपना देश, उसकी स्वतंत्रता अर्थात् स्वतंत्रता प्यारी है? देश के प्राण, देवी चन्द्रावती तथा योगेन्द्र के प्राणों से आपको ममता है? यह पत्र पढ़िए। सब कुछ जानते भी होंगे।"

उन्होंने आर्द्र और उत्तेजित हो कहा—"कार से आप रवाना हो जायँ और सुबह होने के पहले आ जायँ—, या नहीं भी आएँ। इस जेलर को तो अब जेल की कोठरी ही अच्छी लगती है।"

एक साँप की-सी सनकती हुई कार शान्त शान्त सड़क पर तेज से तेज कारों को बात की बात में पार करती हुई अनशन गृह के द्वार पर खड़ी हो गयी। बृहद्-समुदाय आहत लक्ष्मण के समक्ष राम-सा विलाप कर रहा था। अचिंतित जितेन्द्र, अंजनी-पुत्र के आगमन से उसमें प्राण-सा दौड़ गया। जितेन्द्र ने वह पत्र-संजीवनी उनके श्रवण-मुख में पिलायी, उनकी आँखें खुल गयीं; त्योंही एक का घंटा बजा; किसानों की प्रार्थना पर कांग्रेस कमिटी से उन पर दण्ड स्वरूप लगाये हुए पाँच लाख रुपयों की थैली ले जमींदार को देने के लिए उनका प्रतिनिधि खड़ा था। साथ में एक प्रतिज्ञापत्र भी था कि हम लोग फिर कोई अगानुपी दुष्कृत्य कभी न करेंगे। हमारा अपराध क्षमा हो। उस समय दो चार व्यक्तियों के अतिरिक्त वहाँ कोई न था। वे समाधि से जगे, जितेन्द्र ने उन्हें अपने हाथ से कोई हलका पौष्टिक पान कराया और कहा—"मुझे अभी लौट जाना है। कैसे आया, कहाँ था, फिर कहूँगा।"

प्राणधमनियों में दौड़े और कार सड़क पर सनसनायी। निस्तब्ध वातावरण डोल उठा! पौ फटने के पहले व्रतधारियों के प्राण और जितेन्द्र जहाँ के तहाँ। आह! उन समाधियों के प्राण जैसे कहीं अति सुदूर से आये! उनकी आँखें

खुलीं, जैसे जीवन के नये अध्याय खुले। उनकी साँसें चलीं, जैसे विश्व में नव आशाएँ, नव आश्वासन, नव मधुवाह चले! त्याग, अनुराग, करुणा और कल्याण की वे मूर्तियाँ!

सृष्टिमौर मानव! तू कितना अंधा, नास्तिक और निर्मम है! तू अपने इष्टदेव को नहीं पहचानता! उसकी इच्छाओं के विरुद्ध आचरण करना, हिंसा में सतत रत रहना—यही तेरी आराधना है। तू अपने भर्त्ता का सदा अपहर्ता रहता है।

जेलर ने पूछा—"कुशल?"

जि०—आप स्वाधीनता के प्राण लौटा लाये। कृतज्ञता-प्रकाश शब्दों की सामर्थ्य से परे है। मैं कैसे···।

एक हफ्ते में वे स्वस्थ हुए। किसानों की एक बहुत बड़ी सभा में नेता तथा नेत्री जी ने कहा—"तुम्हारे पाँच लाख रूपये जमींदार ने नहीं लिये। मेरे ऊपर दया कर तुम्हें क्षमा किया लेकिन आह! क्षमा और तुम! उन बच्चों की याद मेरे हृदय में ज्यों की त्यों है और रहेगी। इसकी कोई भी पूर्ति नहीं की जा सकती। जमींदारों तथा पूँजीपतियों से तुम किसानों और गरीबों का हृदय कम काला नहीं। कांग्रेस के इतिहास में किसी भी जमींदार, तालुकदार तथा राजा-महाराजा का ऐसा अत्याचार मैंने न देखा, न सुना। यदि तुम लोग उतने सशक्त होते तो उनका नाम भी मिटा दिया होता। मैंने पढ़कर ही नहीं, व्यवहार द्वारा भी जान लिया कि इस संसार में धन का नहीं, मन का, मानवता का कंगाल है और इसी से यह सुख का स्वप्न देखता हुआ दुख की कँटीली झाड़ियों में उलझा चला जा रहा है।"

फिर उन्होंने कुएँ पर की किसानों की कहानी सुनाकर कहा—"तुम लोगों की दशा सोचनीय है। यह न्यायसंगत जान पड़ता है कि तु : और दुर्दशा भोगनी चाहिए। समझ लो, खूब समझ लो, सुधार क्या है, स्वतंत्रता क्या है, स्वराज क्या है। सुधार यह नहीं है कि तुम किसी से ऋण लो किसी कानून तथा अन्याय की आड़ में उसे हड़प कर जाओ। स्वतंत्रता यह नहीं है कि तुम शिष्टता, संयम और सदाचार छोड़ दूसरों का उत्पीड़न करो। दुराचार और स्वराज यह नहीं है कि अपना राज हो, चाहे हम दुष्ट ही रहें। स्वराज की प्राप्ति है सुराज में ही

कांग्रेस तथा संघ को भी इस विषय में सतर्क रहना चाहिए कि स्वतंत्रता के लिए, स्वतंत्रता के नाम पर दुराचारों और कुवृत्तियों का प्रसार न हो। जनता अधिकारों का अनुचित लाभ उठा रही है। ऐसा न होने देना चाहिए। सदाचार की हानि उठाकर हमें कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं। मानव की श्रेष्ठतम विभूति, मानव का सर्वोच्च अधिकार मानवता ही है। वातावरण दूषित कर हमारे अधिकांश नेता तथा कार्यकर्त्ता भी, स्वत्व प्राप्त कर लेने पर, उस दूषण से कदापि दूर न रह सकेंगे। उनका सत्याग्रह, त्याग तथा देश-सेवा उनके दुराग्रह, स्वार्थलिप्सा तथा भोग-विलास में परिणत हो जायगी—यह संभव ही नहीं, अवश्यम्भावी है। साध्य ही नहीं हमारे साधनों का भी शिष्ट और साधु होना आवश्यक है।

१५

स्त्रियों की चिन्ताजनक निरक्षरता तथा उनके कठोर पर्दा सिस्टम से भी नेताओं को कम क्षोभ न था। साक्षरता दिवस के उपलक्ष्य में जो महती सभा चन्द्रावती देवी के सभापतित्व में हुई थी उसमें नेताजी ने बड़े ही मर्मस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक शब्दों में कहा था, बहुत कुछ कहने के बाद—

मुझे एक सच्ची कहानी याद है जिसे घर-घर में घटित समझिए। जब मैं स्कूल में दसवीं कक्षा में पढ़ता था, अपने एक मित्र के घर गया था, बड़े दिन की छुट्टियों में। नयी बहू घर में आयी थी, वह मेरे मित्र की भाभी होती थी। मेरे मित्र के पिता की आँखें आयी थीं, कोई दवा लगा पट्टी बाँधी गयी थी। वे कुछ काम से घर में गये। आँगन में पहुँचे। मेरे मित्र की माँ पड़ोसी के घर गयी थीं। बहू के सिवा दूसरा कोई घर में नहीं था।

नाबदान के रास्ते शायद, या किसी दूसरी ही ओर से एक साँप रेंगता हुआ बीच आँगन में चला आया था। उनके और साँप के बीच दो-तीन पग की दूरी रह गयी थी। किवाड़ से लगी बहू ने देख लिया। वह सन्न हो गयी। परंतु वह कहे कैसे कि साँप है साँप! आगे बाबू जी। कैसे वह

अपने ससुर के सामने बोले ? कैसे वह शिष्टता की इस दीर्घ परंपरा, नियम और नियंत्रण को भंग करे ? ऐसी शालीन बहू है कि किसी ने उसकी बोली भी न सुनी होगी, मुख देखने की कौन कहे—इस अभिनन्दन, सम्मान और प्रतिष्ठा को वह कैसे ठुकरा दे, कोई भले संकट में पड़ जाय—ससुर, भसुर ?

वह चाहती हुई भी न बोल सकी। दो पग आगे बढ़ उन्होंने साँप के ऊपर पैर रख दिया। वह सन्न हो गयी। घूँघट खुल गया। हाथ ऊपर उठ रुक गया। रोंगटे खड़े हो गये। सब कुछ हो गया, पर वह बोल न सकी। उसी समय उसके पतिदेव और देवर, मेरे मित्र भी पहुँच गये। विचित्र घटना देखी। साँप उन्हें काट पैर में लिपट गया था। वे तड़फड़ा रहे थे। बहू सन्न हुई, छटपटाती-सी, अति व्यग्र हो द्वार पर खड़ी थी। जो अवसादसूचक शब्द उसके हृदय से उठे वे उसके मुख से बाहर न हो सके—विनाशकारी परंपरागत रूढ़ि मर्यादा को लाँघ न सके।

कुहराम मच गया। वैद्य आये, डाक्टर आये, झाड़ने फूँकने वाले आये, परंतु बहू की विषधर लज्जा ने जो सर्प बन डँस लिया, उसके प्राणों को लौटने न दिया। एकाध ही घंटे में वे बहू के बेटे, बेटे के बेटे देखने की आशाएँ, अभिलाषाएँ लिये चल पड़े, कराह-कराह। आज भी उस कहानी की याद मुझे हिला देती है, एक साँप मेरे हृदय पर लोट जाता है। घर-घर में ऐसी बहुएँ हैं—घर-घर में ऐसे विषधर हैं।

देवी जी ने भी आँखों देखी एक कहानी कही—

तब मैं मायके में थी। मेरे पड़ोस ही में नयी बहू आनेवाली थी। स्टेशन पर बहुत-सी बहुएँ थीं जो पहले ही पहल विदा हो ससुराल जा रही थीं। वे एक ही जगह बैठी थीं। गाड़ी खुलते समय दो दुलहिनें बदल गयीं। एक ही पिछौड़ी में बँधी हुई-सी, लपेटी हुई-सी उनकी ठीक पहचान न हो सकी। जो दुलहिन मेरे पड़ोस में आयी उसे न जाने कहाँ जाना था और जो यहाँ आनेवाली थी वह न जाने कहाँ गयी।

महीनों बाद उसका भाई आया जो विवाह के समय भी अन्यत्र था। अपनी बहन से भेंट करने गया। रोने-भेंटने के बाद का अभिनय जो बहू के मुख उघारने पर हुआ वह विचित्र झिझक, आश्चर्य और घबराहट का था। वह

चकित थी यह कौन घर में घुस आया, वह विस्मित और लज्जित था मैं कहाँ चला आया।

उसने बाहर आ पूछा—"हमारी बहन कहाँ है ?"

घरवालों ने समझा हँसी कर रहे हैं। लेकिन जब पूछने की गंभीरता बढ़ती गयी तो समझा ये पागल तो नहीं हो गये ! हँसकर कहा—"वह घर में है और कहाँ रहेगी ?"

वह बोला—"वह तो न जाने कौन है। आपलोगों ने मार डाला, या क्या किया ?"

उसने उन पर अदालत में अभियोग चलाया।

दूसरी कहानी भी मेरे मायके की ही है :—

नयी बहू की मयभा सास थी। उसके बच्चे अभी छोटे थे। बहू के पतिदेव कहीं बाहर रहते थे। वह सास उससे जला करती। ससुर इस बात को जानते थे। वे बीमार पड़े। वह बीमारी उन्हें ले ही जाने को आयी थी। उन्होंने खाट पकड़ ली। सब कुछ उस मयभा सास के ही हाथ था जो कुछ नकद था, और नकद ही अधिक था। थोड़े रुपये जो उन्होंने भूमि के अन्दर रख छोड़ा था, बहू को गुप्त रूप से दे देना चाहते थे।

जो कुछ शिक्षा उसने वंश-परम्परा से पायी थी और उससे भी अधिक, जो उस मयभा सास ने दिया था, वह यही थी—कैसे चलती है, घूँघट खुल जाता है, लाज नहीं, बोलती है निगोड़ी कहीं की...।

ससुर ने कहा—"अब मेरा अंतिम समय है। तनिक बहू को बुला दो, दो-चार बातें तो कर लेता। अभी तक देखा भी नहीं।"

बहू ये बातें सुन रही थी। उसका हृदय बाहर निकला आता था। परंतु उधर वह उत्तराधिकार और इधर सास का कफ्र्यू आर्डर ! पर क्या वह सबको तोड़ उनके पास नहीं जा सकती थी ? न जाने कितने पहाड़ों को तोड़, जंगलों को उखाड़ मनुष्य ने अपना मार्ग बना लिया, परंतु पोले शब्दों की ये दीवालें अब तक न टूट सकीं ! न जाने कितने भू-खण्ड फट तरंगित जल से भर गये, परंतु समाज की यह कठोरता न फट सकी, उसकी आँखों में आँसू न आ सके।

सास को उनकी बातें अच्छी न लगीं। बोली—"भला वह कल अभी डोली से उतरी है, मुँह कैसे खोलेगी ? लोग क्या कहेंगे ?"

रूढ़िग्रस्त परंपरा गत मर्यादा का वह विनाशकारी बाँध टूट न सका। दोनों दोनों ओर तरसते रह गये। उनकी अभिलाषाएँ उनके साथ चली गयीं, अपनी बहू बेटी से बोल न सके। वह जीवन भर अभिशाप भोगती रही, अपने सगे शुभाकांक्षी की दो बातें सुन न सकी।

हमारी रूढ़ियों से ऐसी हत्याएँ हो रही हैं। जब-जब मुझे इन बातों की याद आती है तो हृदय सिहर उठता है और होता है इन सासों और बहुओं को भी सासत घर में···। ओह !

१६

जैसे देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक, जीवन में एक लहर-सी आ गयी हो। सब लोग अँगड़ाई ले करवटें बदल उठ गये और एक ओर चल पड़े। नये-नये आचार-विचार, नये-नये स्वाद, वाद आ गये; नये-नये संघ बनने लगे। किसान दल, मजदूर-दल, ट्रेड यूनियन कम्पनी, महिला समाज, खादी प्रचार, कुरीति-सुधारक संघ—आदि आदि की न जाने कितनी सभाएँ होने लगीं। राष्ट्र के कानों में जब चारों ओर का शंख-नाद पड़ा तो जैसे वह झिझक उठे, चौकन्ना होते हुए भी चौकन्ना होना चाहे।

वह समय जैसे परिवर्तनवाद का हो, हर एक वस्तु परिवर्तन चाहती हो। लोग पुराने जामे उतार नये पहनना चाहते थे, नये कट, नये फैशन, नयी डिजाइन के। कहीं कहीं लोग अनावश्यक परिवर्तन भी—परिवर्तन के लिए परिवर्तन—जिसमें कोई सुधार, निर्माण तथा पुष्टि न थी—करना चाहते थे।

यह सब तो हो रहा था, परंतु सच्ची मानवता का स्वागत न था। उसे न तो वास्तव में आमंत्रित किया जा रहा था, न उसके लिए कोई राह थी। योगेन्द्र

ने उन सबके विषैले अंगों को काट-छाँट उन्हें सुचारु रूप देने का प्रयत्न किया जिससे वे सच्ची मानवता को ग्रहण कर सकें।

नेताजी ने सत्याग्रह अहिंसात्मक संग्राम के विषय में कहा कि यह संग्राम अति सबल, क्षमाशील महात्माओं का है। सत्य रूप से इसे वे ही कर सकते हैं जो अपने शत्रुओं को भी प्यार करें, जिन्हें उनके प्रति मानसिक क्षोभ भी न हो। अन्य जो इसमें असमर्थ हैं, केवल देखादेखी पुलिस के डण्डों की मार सहते जाते हैं, कायरों की तरह मार सह अपनी आगामी पीढ़ियों को भी कायर और पतित बना अपने आत्म-गौरव को नष्ट करते हैं। उनसे तो वे ही अच्छे हैं जो हिंसात्मक संग्राम करते हैं। यह भी समझ लेना चाहिए कि अत्याचारों के विरुद्ध अपने उचित अधिकारों तथा स्वाधीनता के लिए जो तलवार उठायी जाती है, वह भी अहिंसा की ही तलवार है, क्योंकि उसकी प्रेरणा के मूल में भी शांति और अहिंसा का ही भाव रहता है, अशांति और अहिंसा का नहीं।"

यह सब कुछ कहा गया, परंतु, सत्याग्रहियों की जैसे बाढ़-सी आ जाय। बहिष्कार, हड़ताल, धरना, कानून-भंग होने लगे। पुलिस के डंडे बरसने लगे। जेल में ठस-मस हो गयी। जैसे वह विश्वनाथ का मंदिर, काबा और गिरजाघर हो गया। जब जेलों में जगह न रह गयी तो उनके कर्मचारी घबड़ा गये। ऐसा जान पड़ा कि वह बाढ़ सरकार को बहा ले जायगी। सरकारी कर्मचारी उन्हें छोड़ने का बहाना ढूँढ़ने लगे—जिनके केस की इधर-उधर सुनवाई होकर सजा हो गयी थी और जिनके केस की सुनवाई अभी नहीं हुई थी—दोनों को। कितनों से कहा गया, क्षमा माँग लो छोड़ दिये जाओगे। उन्होंने न माँगी। परंतु उन्हें भी, जिन्होंने माँग ली उन्हें और जिनके छः महीने, साल भर की सजा केवल हफ्ता दो हफ्ता बीती थी—सब छोड़ दिये गये।

जनता का जोश बढ़ा और सरकार घबड़ायी। परंतु दूसरी बाढ़ को पुलिस के दुर्दांत दण्ड-प्रहार ने ऐसा रोका कि भारी भाटा आ गया—वह जो ज्वार की ओर सिर भी न उठाए। फिर तो प्रमुख नेताओं तथा कार्यकर्ताओं की धर-पकड़ और बन्दियाँ शुरू हुईं।

एक बार गवर्नर ने उनसे कहा—"हम देश की उस मनोवृत्ति से जिससे प्रेरित हो वह सरकार से स्वाधीनता का युद्ध कर रहा है, बहुत प्रसन्न हैं।

परंतु सीमित जातीयता तथा अन्य लोगों के प्रति सहिष्णुता के अभाव के कारण अभी पर्याप्त सफलता नहीं मिल रही है। एक बात हमारी समझ में नहीं आती कि सरकार खुशी-खुशी जो कुछ देती चलती है उसे आपलोग क्यों नहीं लेते ? हम यहाँ गवर्नर के नहीं, आपके एक सच्चे मित्र के रूप में कहते हैं कि आप लोग अंग्रेजों को केवल विदेशी के रूप में देखते हैं।"

योगेन्द्र ने कहा—"आपलोग भारतीय हृदय का अंतर्निकुंज नहीं देख पाते, या देखने का प्रयत्न ही नहीं करते। आप उनके प्रेम तथा विश्व-बंधुत्व की भावना को नहीं छूते, केवल उनकी उस मनोवृत्ति को टटोलते हैं जो उन्हें भयभीत तथा निर्भीक बनाती है, उन्हें अपने सच्चे अधिकारों को जानने नहीं देती, प्रलोभनों में उलझाए रहती है। आप वहाँ से केवल शासक के रूप में भेजे जाते हैं और यहाँ वैसे ही बर्तते भी हैं—ऐसे शासक को शासितों पर विश्वास न करें, उन्हें पंगु बनाए रक्खें, अपना भेद न जानने दें। अपने शासितों को आप पुत्र तथा मित्र रूप में कभी नहीं देखते। पुत्र योग्य हो जाय तो उसी पर घर का भार छोड़ दिया जाय, उसे ही कोष की कुंजी सौंप दी जाय—इसका तो भाव भी आप में कभी नहीं आता। सच मानिए विश्व-बंधुत्व, आत्मीयता का अति शीघ्र पनपनेवाला भाव जो आपको इस जाति में मिलेगा, और किसी भी जाति में नहीं मिल सकता। परन्तु वह पनपने नहीं पाता। मेरे इस कथन में कट्टर संप्रदायों की बात नहीं है। और जो अधिकारों की बात कह रहे हैं आप—वह हमें अधिकार नहीं दिये जाते, हमारी प्रगति में रोड़े अटकाये जाते हैं—हम खिलौनों से लुभाये जाते हैं।"

× × × ×

दूसरे दिन तीन बजे संघ का बड़ा कार्यालय सशस्त्र पुलिस से घेर लिया गया। कहा गया इसकी तलाशी होगी। कुछ कर्मचारी भीतर आये। योगेन्द्र कोई बहुत आवश्यक रिपोर्ट लिख रहे थे। यह रिपोर्ट गांधीजी के पास भेजनी थी। कई बड़े-बड़े नेता इस समय कार्यालय में ही थे। पुलिस कप्तान ने योगेन्द्र के पास खड़ा हो कहा—"आप तथा इन लोगों को पकड़ और दफ्तर की तलाशी लेने का आदेश है।"

योगेन्द्र ने उनकी ओर आँखें उठायीं और कहा—"यह काम कर लूँ।" यों

कह वे अपने काम में लग गये। उनकी मुद्रा ज्यों की त्यों थी, मानो पुलिस और वे सशस्त्र सिपाही सर्वसाधारण के अतिरिक्त कुछ भी न हों, और जेल नित्य के रहने का घर और घूमने का पार्क हो। कप्तान को प्रतीक्षा करनी ही पड़ी।

अपना काम समाप्त कर उन्होंने कहा—"हाँ, तो यह घर-पकड़ और तलाशी क्यों हो रही है ?"

कप्तान—राजविद्रोह और तत्संबंधी कागजों के लिए।

योगेन्द्र—यह तो अपनी स्वाधीनता के लिए, अपने अधिकारों के लिए युद्ध है—अहिंसात्मक युद्ध है, राजविद्रोह कैसा ? लेकिन जब सरकार का विधान भानुमती की जादू की पिटारी है जिससे आर्डिनेंस और आर्डर के रूप में सब कुछ—साँप, कबूतर, बिच्छू, अशर्फियाँ इत्यादि निकाली जा सकती हैं तो अपराध क्या पूछना है !

सभी नेता पकड़ लिये गये। कोई कहीं बंद, कोई कहीं। कैसा अनिश्चित जीवन था इन नेताओं का—एक क्षण भी निश्चित नहीं कि घर रहेंगे, या जेल की कोठरियों में ! उनके जीवन की नियमावली सुख-सुविधाओं तथा विश्राम से रिक्त थी मानो।

वे सभी लोग भिन्न-भिन्न जेलों तथा स्थानों में बन्द किये गये—योगेन्द्र कहीं, जितेन्द्र कहीं, चन्द्रावती कहीं। पर शीघ्र ही योगेन्द्र उसी जेल में भेज दिये गये जहाँ चन्द्रावती देवी थीं। इसके लिए इधर से कोई प्रेरणा न हुई थी, यह उक्त गवर्नर साहब का अपना अनुग्रह था।

वही चुस्त जेल, वही ऊँची चार-दिवारी, वे ही वार्डर, वे ही घनघोर घंटे ! सबकी आँखों से दूर, जीवन और प्रकृति के राग-रंग तथा ज्वार-भाटाओं से दूर !

नेता तथा नेत्री जी के सम्मान में अभिनन्दन पत्रों की भरमार होने लगी। त्यागमूर्ति, स्वर्गदूत, भारत-भूषण, योगीश्वर, विश्वमुकुट, विश्वविधात्री आदि सम्बोधनों से भरे रहते वे पत्र। वे अपने को इन उच्च उपाधियों के अयोग्य समझ मन में लज्जित हो जाते। परंतु इससे उन्हें यह बोध तो अवश्य ही हो जाता

कि देश तथा सर्वसाधारण में उनके तथा स्वाधीनता के प्रति कितनी श्रद्धा और सम्मान था।

इस कारावास के पहले कारावास में ही हमारे इन नेताओं ने बहुत बड़ा अनशन किया था। वह इसलिए था कि राजनीतिक बंदी साधारण बंदियों से भिन्न समझे जायँ और उन्हें विशेष सुविधाएँ मिलें। लंबे व्रत के पश्चात्, जिसमें बहुतों को प्राणोत्सर्ग करना पड़ा, वह अभिप्राय पूरा हो गया। अतः जेल में इन बंदियों को अब बाहर से भी अधिक अवकाश मिलने लगा।

आज जब योगेन्द्र ने अपनी कहानी—आधी योगेन्द्र और आधी चंद्रा ने—लिख डाली, तो उन्होंने कहा—"भाभी, आज होली है, होली न खेली जायगी! आज तुम्हारा शृंगार मैं अपने हाथों से करूँगा। यह फुलवाड़ी है, ये फूल हैं। तुम इससे उदासीन तो नहीं होती जातीं?"

चन्द्रा ने स्नेह-स्निग्ध सुस्मिति से कहा—"हाँ, क्यों नहीं? मेरी देवरानी होती तो हम दोनों शृंगार कर तुमसे होली खेलतीं।"

योगेन्द्र ने फूलों की माला बना चन्द्रा को पहनायी। शीश और कानों पर फूल सजाये। फूलों के रंग का महावर लगाया। फूलों के पराग का तिलक दिया। तब कहा—"भाभी, तुमने वनकन्या के, व्रजबाला के इस रूप में अपने को देखा था? दर्पण तो है नहीं, आओ इस कंडाल के जल में मुख देख लो।"

चन्द्रा को हँसी आ गयी। वे बोलीं—"पानी में नहीं, तुम्हारी आँखों में देख लूँगी, देखती हूँ। इतना बड़ा और स्वच्छ दर्पण और कहाँ?"

चन्द्रा ने देखा योगेन्द्र आज कितने प्रसन्न दीख रहे थे, कितना स्नेह था उनमें उनके प्रति। अतीत की झाँकी होने लगी—वे घर की होलियाँ आने लगीं, जब भाभी अपने देवर को रंग में शराबोर कर सुन्दर-सुन्दर उपहार दिया करती। वे होलियाँ अब जेल में काटनी पड़ रही हैं। अतीत की मधुर याद ने उन्हें जेल से बाहर कर दिया।

योगेन्द्र ने उनकी ओर देख कहा—"भाभी!"

भाभी ने उन्हें हृदय लगा कहा—"बबुआ, आज तुम्हें कौन-सा उपहार दूँ यहाँ?"

आह! परंतु क्या यह याद उन होलियों से कम मीठी है?

वे बोले—"भाभी, तुम्हें कौन-सा उपहार देना मुझे शेष रह गया है ?—जिसके स्नेह में पला, जिसके उत्साह और उमंगों में जीवन के दुरूह, दुर्गम पथ पर बेधड़क बढ़ा जा रहा हूँ; जो अपनी छाया से कड़ी से कड़ी धूप और तुषार के बौछारों से मेरी रक्षा करती है उसके उपहार, उसके उपहार ! यह जीवन उसका ही उपहार है कि और किसी का ?"

चन्द्रा स्थिर दृष्टि से योगेन्द्र की ओर देखने लगीं। उन्होंने पूछा—"क्या है भाभी ?" रुक कर वे बोलीं—'सब कुछ तो है—तुम इतने बड़े नेता, कर्मयोगी, महात्मा में कभी जब भोला शैशव खेलने लगता है, कभी जब कौमार कलोल करने लगता है, कभी जब यौवन की मंजु, मनोरम, पूत रँगरलियाँ होने लगती हैं, कभी जब बुद्ध वयोवृद्ध की—जो तुमसे अभी बहुत दूर है—शांत गंभीरता और चिंतना स्थिर हो जाती है; कभी जब कवि-से, कभी नीतिज्ञ तथा वैज्ञानिक-से और कभी जब योगी-से समाधिस्थ हो जाते हो, तो मैं विस्मित रह जाती हूँ और तुम मेरी समाधि बन जाते हो। परंतु इन सब में तुम्हारा सौम्य व्यक्तित्व व्यक्त रहता है, जो अगाध प्रेम, दया और शौर्य्य से परिपूर्ण है ! जीवन की इतनी कलाएँ एकत्र मैंने कहीं न देखीं। वह भी इतनी अल्प वय में !"

यो०—भाभी ! भाभी ! तुम्हारी ममता ! वह तो साक्षात् सरस्वती है !

शाम को योगेन्द्र ने चाहा कि कैदी भी होली खेलें। परन्तु वहाँ रंग कहाँ था ? किसी क्रांतिकारी ने कहा—"मैं अपना खून पानी में मिला देता हूँ, उसी से होली होगी। हमारे देश की इस समय उपयुक्त होली यही है।" स्वकथन चरितार्थ की उसकी तत्परता देख योगेन्द्र ने कहा—"नहीं, नहीं।"

साथ ही किसी नवागंतुक की आवाज आयी—"नहीं !" बहुत बड़ी, अनुभवी, अनुशासन-शासनपूर्ण, गंभीर, अडिग आवाज थी वह जिसमें पहली आवाज श्रद्धांजलि-सी अर्पित हो गयी।

यह आवाज थी बाबा अजीत सिंह की। आज वे यहाँ दूसरे जेल से भेजे गये। बहुत से कैदी इधर-उधर किये गये। परन्तु जब अजीत सिंह का जेल से स्थानान्तर होने लगा, तो शायद कर्मचारी को यह ध्यान न रहा कि योगेन्द्र इसी जेल में हैं।

लोगों ने जयजयकारों से उनका स्वागत किया। उस स्वागत का स्वागत कर बाबा बोले—"जेलर साहब ! खून की ही होली होने दीजियेगा !"

"जी नहीं, ऐसा न हो। मैं अभी रंग मँगा देता हूँ।"

जेल में रंग की यह पहली होली थी।

१७

विचित्र जेल था यहाँ का—गोली दीवार, गोले बैरक। इससे कैदियों को दुहरी कैद भुगतनी पड़ती। शायद चौकोनी दीवारों के भीतर ऐसी बात नहीं होती। गोल घेरा विकट घेरा होता है।

आज रात को बाबा अजीत सिंह, योगेन्द्र और चन्द्रा में बातें हो सकीं। बाबा बोले—"बेटा, कितने कैदियों के कंधों पर काठ के बिल्ले देखे होंगे। उन पर उनकी लंबी-लंबी सजाएँ लिखी रहती हैं।

योगेन्द्र—तीस से पचास वर्षों तक के भी लेख देखे हैं।

बाबा—दण्ड का अभिप्राय है सुधार ही, संहार नहीं।

यो०—परन्तु इन जेलों में तो वे किसी योग्य नहीं रह जाते।

चन्द्रा—जो इतने वर्षों तक ऐसे जेलों में रह जायगा, उसके जीवन में कौन-सी स्फूर्ति, कौन-सी आशा, कौन-सी अभिलाषा रह जायगी। वह संसार तथा अपने लिए भी पाषाण, या, अधिक से अधिक, एक बूढ़े पशु से अधिक क्या रह जायगा—जिसमें न कोई इच्छा, न उत्तेजना, न प्रेरणा—केवल पेट भर लेना और तेली के बैल की तरह चलते जाना।

यो०—इन कैदियों में अधिक-से-अधिक पन्द्रह-बीस प्रतिशत ही जरायम पेशावाले हैं। शेष परिस्थिति तथा कुकृत्यों के कर्ता हुए हैं और कितने निरपराध भी पड़े हैं। यदि जेल के भीतर दण्ड के साथ-साथ उनके उत्कर्ष तथा उन्नति की भी व्यवस्था होती तो ये बड़े ही अच्छे नागरिक एवं समाज के अंग होते। उनमें कितने तो बड़े ही प्रतिभावान् और होनहार हैं।

बा०—मैंने पचास वर्षों पर एक कैदी छूटते देखा। वह किसी तरह बाहर जा लौट आया और बोला—"मैं कहीं नहीं जाऊँगा, कहीं नहीं। मुझे जेल ही में रहने दो। बाहर तो न जाने कैसा चकाचौंध-सा लगता है। अरे वह बड़ा-सा, खुला स्थान कितना सूना और भयानक है।

वह अपनी उसी अंधेरी कोठरी में जा घुसा। दीर्घ कारावास ने अंधकार को प्रकाश, प्रकाश को अंधकार, जेल को घर और घर को जेल कर दिया। कुछ बारह-चौदह वर्षों के ही वनवास से जब मनुष्य अपने अधिकारों से उदासीन हो जाता है तो फिर पच्चास वर्षों के कारावास से क्या न हो जायगा ?

यो०—जीवन की आग बुझाकर यह कैसा अनर्थ किया जा रहा है !

दूसरी रात और तरह की बातें हुईं। योगेन्द्र ने कहा—"बाबा, यह असीम स्वच्छ नीलाकाश भी, जिस पर सबका समान अधिकार है, इन दीवारों से परिछिन्न कर दिया गया है। इतना नन्हा-सा आकाश देख तो जैसे जी ऊब जाता है।

बा०—यह क्या बेटा, वर्षों तक मैंने सूर्योदय और सूर्यास्त—प्रकृति के इन रमणीय दैनिक पर्वों का महोत्सव—कभी न देखा। जैसे इस जीवन का आदि-अंत नहीं जाना जाता, केवल मध्य ही दृश्य हो चला जाता है, वैसे ही।

यो०—लेकिन बाबा, तुम्हारे साथ जेल में रहना हो तो किसी तनहाई, किसी संकीर्णता का अनुभव नहीं हो सकता। कोई आकाश तुमसे बड़ा नहीं, कोई पर्व तुमसे सुंदर नहीं।

बाबा मौन हो गये—महासागर से गंभीर हो गये, महाकाश से अनंत हो गये ! लोग डरे कहीं बुढ़ापे का दौड़ा तो नहीं है। परंतु वैसा न था। यह उनकी तुरीयावस्था थी।

देर बाद वे तारों की बहार देखने लगे। असंख्य तारों की जगमगाहट ऐसी लग रही थी, मानो अनंत मरकत पत्र पर अनगिन मोतियों को रख कोई धीरे-धीरे हिला रहा हो।

"गगन घन ये मोती शुष्क धरातल पर बरसाना चाहता है तो क्यों नहीं बरसाता ?"

"गगन यूथिकावन की ये जूहियाँ ऊषा मालिन एक साथ चुन लेती है।"

"गगन के ये हृदयोद्गार कितने उर्मिल हैं—कितने वाचातुर हैं !"

"विरह विधुर आकाश के हृदय में इतने छिद्र !"

"असंख्य आँखें इस विदग्धवसुधा को देख-देख तरस रही हैं—कैसी यहाँ की विषमता है !"

"रजनी के ये सुख-स्वप्न भोर होते ही बिखर जाते हैं।"

"अनंत की ये मनोवृत्तियाँ कौन समझ पाता है ?"

"मुक्तावर्णों में अंकित नीले पत्र पर यह कविता कौन समझ पाता है ?"

"गगन सागर के ये बुलबुले कभी नहीं टूटते।"

"नभ की कालिन्दी में रजनी तारों के ये गजरे धो धो कर पुलक उठती है ?"

× × × ×

बाबा अजीत सिंह और चन्द्रा शीघ्र ही दूसरे जेलों में भेज दिये गये। इस बार योगेन्द्र को बड़ी तनहाई मालूम होने लगी। रात को बैरक और जेल की दीवार के बीच आकाश की स्वल्प झाँकी-सी हो जाती, बस। अपने मन को लगाने के लिए उन्होंने पुस्तकों का अध्ययन प्रारंभ कर दिया, अपनी कहानी तो यथासमय लिखते ही थे। सुबह-शाम कुछ दौड़ लगाना, पानी खींचना—यह सब व्यायाम के लिए होता।

कानविक्ट ओवरसियर, दीवार की देख-रेख करने वाले, कानविक्ट वार्डर, चौकीदार 'सब ठीक है !' कह कर सब कुछ बेठीक कर देते—निशीथिनी के शांत हृदय को धड़का देते।

जब कभी बादल के छोटे-छोटे टुकड़े आकाश में तिरते तो उन्हें बड़ा आनंद आता। ये ही मानो उनके जीवन सहचर थे, जगत के जीवनदाता। रात को लुक-लुक कर जब उन मेघ-खण्डों से चाँद निकलता तो उन्हें सविता और चन्द्रा की याद आ जाती। आज सविता की याद ने—उसके होने, न होने के ध्यान ने—देर तक उन्हें विलीन रक्खा। प्रभात तथा दिन में जब किरणें उन कोमल कलेवरों को नाना रंगों में रँगतीं और पवन धीरे-धीरे अपनी गोद में झुलाने लगता, तो उनके हृदय में अतीत प्रणय और स्नेह की लहरें उठने लगतीं। कभी-कभी जब नभ निभृत और निरभ्र हो जाता तो बाबा अजीत सिंह की सौम्य प्रतिमा सामने खड़ी हो जाती। कभी कभी आकाश में वायुयान की

चंचल बत्तियों को देख ऐसा लगता मानो विशाल कर्मयोगी की गगनोन्मुखी मनोवृत्तियों को ढूँढ़ने में व्यस्त हो। कभी-कभी जब सुबह, उस समय, उनकी नींद टूटती, जब पक्षी चहचहाना शुरू कर देते और एक उग्र तारा चाँद के पास बच्चे की तरह हुलसने लगता तो उन्हें अपने दूरातीत शैशव एवं कोमार की याद आ जाती, जब माँ बेटा बेटा कह थपकियों से उसके उच्चाट को फिर मीठी-मीठी नींद में विभोर कर दिया करती। वह चाँद भी उन्होंने कई बार देखा जिसे सविता के साथ प्रणय-पथ पर देखा था। वे तारे, वे चाँद, वे प्रभात जो शैशव में थे, अब न थे।

"माँ, वह शैशव फिर आयेगा ?"

१८

इस वर्ष स्वतंत्रता-दिवस मनाये जाने का वृहत् आयोजन था। प्रायः सभी बड़े-बड़े नेता जेल से बाहर हो गये थे। इस देश-व्यापी उत्सव में कोई नगर, कोई गाँव, कोई घर उसके आन्दोलन से अलग नहीं था। सर्वत्र ही फूल-पत्तों, तोरणों तथा झंडों की विचित्र सजावट थी। सब काम-काज बन्द कर खुशियाँ मनायी जा रही थीं, गाने-बजाने हो रहे थे। शहरों में बड़े-बड़े प्रदर्शन भी हो रहे थे। कहीं-कहीं सहस्रों की संख्या में छोटे-छोटे बच्चों का एक वेश में तिरंगे झंडे लिये, देश तथा नेताओं की जय बोलते और यह गाते हुए—"यह हिन्द मेरा आजाद रहे, माता के सिर पर ताज रहे"—पार करना बड़ा ही प्रभावोत्पादक एवं हृदयग्राही दृश्य था। उज्ज्वल भविष्य वर्तमान की गोद में विचित्र छटा दिखा रहा था। ऐसी विराट्, व्यापक जागृति, ऐसा उल्लास पिछली कितनी शताब्दियों के इतिहास में एक नूतन अध्याय था।

अखिल भारतीय सम्मेलन में कान्फरेंस हाउस के बाहर सजा हुआ पण्डाल खड़ा किया गया था। बहुत से नागरिक और दर्शक एकत्र थे। सभी लोग अपनी एक पुष्पमाला नेता जी के कंठ में श्रद्धार्पित करने को विकल थे। बड़ी

कठिनाई का सामना था। नेता जी ने कह दिया—"हमें आप लोगों की भेंट मिल गयी। अब हमारा विनम्र आग्रह और अनुरोध है कि हमारी ओर से आप स्वयं उन्हें पहन शांतिपूर्वक बैठ जायँ।"

ऐसा ही हुआ। पुनः प्रार्थना होने के पश्चात् ऊँचे स्टेज पर सभी प्रमुख नेता बारी-बारी खड़े हो कुछ कहने लगे ताकि उत्सुक जनता उन्हें देख और उनका भाषण सुन सके।

कुछ देर में योगेन्द्र मंच पर खड़े हुए। जनता की उत्सुकता बहुत बढ़ गयी। उनका व्यापक व्यक्तित्व, अदम्य शक्ति, अपराजित शौर्य, भव्य-दिव्य मुख-मण्डल, सकरुण, सुदीर्घ, सुविकसित लोचन सबको अपने आर्ष आकर्षण से आकर्षित किये हुये थे। उस तरुण कर्मयोगी को दर्शक नाना विशाल रूपों में देख रहे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उस व्यक्तित्व का प्रकाश स्वेच्छापूर्वक सर्वत्र प्रसरित हुआ करता था। जनता ने उसमें अपनी पूर्ण शक्ति और स्वाधीनता देखी और नेताओं ने उसमें असीम श्रद्धा और उत्साह के साथ अवि-चलित नेतृत्व देखा।

वे बोले—"सज्जनो, भाइयो, बहनो तथा बच्चो! आज का स्वतंत्रता दिवस हमारे आधुनिक इतिहास का गौरवपूर्ण दिवस है। हमें इतना न भूलना चाहिए कि स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। हम समीर से स्वतंत्र हैं, कहीं भी रहें—जेल में, बाहर, संगीनों की बौछार में, फूलों की शय्या पर, जमीन पर, आसमान में—सर्वत्र हम स्वतंत्र हैं। हमें अपने सिवा कोई भी परतंत्र नहीं कर सकता—हमें हमारा ही बंधन बाँध सकता है, संसार का नहीं, राष्ट्र का नहीं, समाज का नहीं। हमारी साँस-साँस में, कदम-कदम में यही झंकार हो—'हम स्वतंत्र हैं! हम स्वतंत्र हैं!'

अभी बहुत कुछ करना है—हिमालय की चोटी पर चढ़ना है, आग के गोलों से खेलना है—लेकिन हम कंधे से कंधा, कदम से कदम मिला चलते रहेंगे यही गाते—'हम स्वतंत्र हैं! हम स्वतंत्र हैं!'···

बहुत बड़ा जयजयकार हुआ। पुनः देवी चंद्रावली की बारी आयी। समूर्त स्वतंत्रता ही मंच पर खड़ी हो गयी। आज हमारे नेताओं की अपूर्व छटा थी और वैसी ही जनता की दृष्टि भी। आज का दिन, आज की प्रकृति, आज की

मनोवृत्ति अपूर्व शोभन, अपूर्व उज्वल, अपूर्व मनोरम थी। देवी जी ने भी अपना आशय अतीव हृदयस्पर्शी, हृदय-प्रेरित शब्दों में कहा। फिर जितेन्द्र तथा अन्य नेताओं ने भी कुछ न कुछ मर्म की, सत्य की और स्वाधीनता की बात कही।

परंतु सरकार ने उस पुनीत, सम्मानित स्वतंत्रता दिवस के मनाने का दूसरा ही आयोजन किया था। अन्य स्थानों पर तो डंडों और मामूली गोलियों का प्रबंध था, लेकिन यहाँ का प्रबंध कुछ और ही था। यों तो सर्वत्र ही प्रदर्शनों में निरपराध जनता जय बोलने के लिए, स्वतंत्रता का नाम लेने के लिए आज अपने महान पर्वोत्सव पर, अपने ही भाइयों से, शासकों से डंडे और गोलियों से हताहत हो रही थी; निहत्थे उनके प्रहार को निरुत्तर सह रहे थे और टूटती हुई साँसों से भी अपने नारे न टूटने दे रहे थे। परंतु यहाँ तो सहस्रों सशस्त्र सैनिकों ने पंडाल को घेर लिया। बड़े कर्मचारी के आदेश से कुछ सैनिक चन्द्रावती, योगेन्द्र तथा जितेन्द्र आदि प्रमुख नेताओं को घेरकर खड़े हो गये, शेष पर गोलियाँ बरसाने लगे। जनता धड़ाधड़ गिरने लगी—कहीं भागने का अवसर न पा वह अधिवेशन गृह में घुस गयी। कर्मचारी ने उसमें मशीनगन लगा दी। घमाघम गोले धमकने लगे। संहार! संहार! घोर संहार!! वाह रे गोलियाँ! वाह रे गोले! यह लोहित अट्टहास!

हाँ, देख रहा हूँ तुम्हारी यह नर-संहारिणी पैशाचिक क्रीड़ा और देख रहा हूँ इन नवजवानों को, इन वृद्ध तरुणों को, इन बच्चों को सीना आगे किए हँसते हँसते तुम्हारी ज्वाला में स्वाहा हो स्वतंत्र होते और उनके अदम्य वीरोत्सर्ग में तुम्हें और तुम्हारे भीषण संहार को मुख काला किये युग-युग के लिए घोर पतन में जाते।

मर कर अमर होनेवाले वीरो! तुम्हारी टूट कर भी न टूटती हुई साँसों के सरगम में अपराजित विजय की रागिनी बजती है। तुम्हारे निष्प्राण शरीरों से अमर प्राणों की गुंजार हो रही है। तुम्हारे शवों पर स्वर्गीय विभव निछावर हो रहे हैं। भारत की भावी आशाओ! अभी माँ के स्तन से तुम्हारा दूध पीना भी न छूटा होगा, परंतु तुम्हारा साहस ऐसा अडिग, तुम्हारी वीरता ऐसी अदम्य कि तुम धराशायी हो गये हो, तुम्हारे कमल कोमल अंगों के रक्तवाह से धरा

लाल हो रही है, तुम्हारी साँसें टूट रही हैं, परंतु 'भारत माता की जय' के नारे नहीं टूट रहे हैं। एक जननी से उऋण हो गये, दूसरी से उऋण हुए जा रहे हो। माँ की छाती से तुमने दूध नहीं, प्रगाढ़ देश-प्रेम और अदम्य वीरता पी है।

घिरे हुये योगेन्द्र आदि नेताओं ने कहा—"हमें यहाँ क्यों घेरे हुए हो? हमारे ऊपर भी गोलियाँ बरसाओ, गोलियाँ बरसाओ। छोड़ो हमें, उन बौछारों में जाने दो, आततायियो! तुमने दानवों की तरह मारने जाना, —यह देखा है और फिर देखो देवों की तरह मरना कैसे होता है। छोड़ दो! हट जाओ! गोलियाँ चलाओ!"

सैनिक—आप लोग यहाँ से नहीं हट सकते।

नेता—क्या तुम्हें मालूम नहीं कि इन काले कारनामों का जवाब तुम्हें ही देना होगा यहाँ और वहाँ भी! भाइयो! तुम मरने से कभी न डरना। सबसे अभय रहना तुम्हारा सबसे बड़ा अधिकार है। गोलियों की बौछारों में, गोलों की गड़गड़ाहट में मरकर, तड़पकर, अधमरा होकर हमें अभी न जाने ऐसे कितने पर्व मनाने होंगे। हम मरनेवाले मरने को तैयार हैं, तुम मरनेवाले आततायियो! मारने को तैयार रहो! खबरदार जो पीछे हटना!

उन गोलों की भी गरज से अधिक हृदय दहाड़नेवाली, क्षमता से भी अधिक क्षमाशील नेताजी की वाणी ने सुनी होकर अनसुनी रहने पर भी, अखिल राष्ट्र शृंखला को हिलाते हुए आकाश को भेद दिया।

मेदिनी मरों और अधमरों से पट गयी, रक्त में रँग गयी। वे गजरे जो अभी अभी उत्साह और उमंगपूर्ण वृक्षों पर लहरा रहे थे, अब लहू में लथपथ हो रहे थे। वे महिलाएँ, वे युवक, वे बच्चे जो अभी अभी जयजयकार कर रहे थे, रोम-रोम से पुलक रहे थे, अब रक्त-पंक में आहें भर रहे थे, दम तोड़ निश्चेष्ट पड़े थे। उनके कलेजे वारपार हो गये थे, उनके खोपड़े टूट-फूट गये थे, गायब हो गये थे। वे नहीं थे, परंतु उनके उल्लास, उनके जय जय के नारे अभी ज्यों के त्यों वायुमण्डल को विलोड़ित कर रहे थे। वे नहीं थे। नहीं, नहीं, वे ही तो थे, वे ही हैं और वे ही रहेंगे।

अभी क्या था, अभी तो पूर्णाहुति होने ही को थी। सरकार की पैशाचिक

१९

वाइसराय का एक अर्दली जो बहुधा उनके बँगले पर रहता था, लिखने–पढ़ने का बड़ा आदी था। अपने अवकाश का वह ऐसा ही सदुपयोग किया करता। अभी उसकी दाढ़ी में शायद ही एकाध सफेद बाल रहे हों। दाढ़ी और मूँछें उसकी राजपूतों तथा पंजाबियों की-सी रोबीली और प्रभावशालिनी थीं। माथे में एक दाग-सा था। मुद्रा तथा आकृति भव्य और प्रभावोत्पादिनी थी। अर्दली कहना उसे अपमानित करना था, चाहे वह वाइसराय का ही अर्दली क्यों न हो। वह उनकी मोटर भी चलाता और उनके पार्षदों के समीप भी बैठ जाता। साहब उसकी योग्यता से परिचित और प्रभावित थे। यों उसका अनादर नहीं था।

वह अंग्रेजी अच्छी जानता था। वाइसराय की जो लिखा-पढ़ी पार्लियामेंट तथा प्रान्तीय गवर्नरों से होती उससे वह बहुत दिलचस्पी और जानकारी रखता। हो सकता तो उसकी नकल कर लेता। वह शार्टहैंड जनता था।

वहीं लाट साहब के यहाँ एक पुस्तक थी—'हम, और हमारा शासन।' इसका विषय था हम अंग्रेज यहाँ कैसे आये, कैसे अपना शासन स्थापित किया, कैसे शासन करना चाहिए तथा कैसे उसे स्थायी बनाना चाहिए। कूटनीति के प्रकाण्ड पाण्डित्य से परिपूर्ण ब्रिटिश शासन का वह इतिहास अपने ढंग का एक ही ग्रंथ था। वह अर्दली यथावकाश उसे दाँतों उँगली दबा पढ़ता और उतारता जाता। वह पुस्तक विदेशी शासक-वर्ग को छोड़ किसी शासित देश निवासी के अधिकार और आँखों से दूर रहती तथा रहने को थी।

× × ×

इस बार का जेल योगेन्द्र को बहुत अखर रहा था। बाबा अजीतसिंह भी साथ न थे। चन्द्रावती की वह दशा। देश की हालत भी अच्छी न थी। सभी आन्दोलन स्थगित-से हो गये थे। चन्द्रावती की तरह देश भी जैसे

मृत्यु-शय्या पर पड़ा हो। इस बार कुछ ऐसी सख्ती थी कि बाहर की री खबरें भी उन्हें न मिल पाती। 'राम नाम सत्य है' की ध्वनि उनके हृदय को हिला दिया करती।

रात को योगेन्द्र खुले आकाश की ओर देख रहे थे बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े मनोगगन में नये-नये विचारों की तरह तैरते हुए आ गये। कभी-कभी ऐसा लगता मानो वे शशि-किरणों पर परियों से झूला झूल रहे हों। कभी-कभी रूई के हलके पहलों से उड़ने लगते। आकाश के न जाने किस अज्ञात पुलिन से वे सुकुमार सुगम वायुयानों पर चढ़ क्रीड़ा करने चले आते हैं। वही परियों, गन्धर्वों तथा यक्षों का देश है शायद। थोड़ी ही देर में नक्षत्र-खचित नभ पर वे ऐसे हलके और पतले हो फैल गये, मानो महान चित्रकार ने अपने उस अनंत गगन-चित्र पर झीना पट तान दिया हो, जो न तो उस पर धूल पड़ने दे और न लोगों की दृष्टि रोके।

थोड़ी ही देर में आकाश का चित्र बदल गया; बादल कुछ घने हो एक दूसरे ही रूप में हो गये। लो, वह तो बिल्कुल भारतवर्ष का चित्र हो गया। योगेन्द्र ने उसे नवोन्मेष से देखा, जैसे उनकी तन्द्रा जाती रही। देखा कि दिल्ली के सभा-भवन में स्वतंत्र भारत की गोलमेज सभा लगी है। उनके, चन्द्रा, सविता तथा बाबा के साथ भारत के सभी नेता उच्चासनों पर विराजमान हैं। यहाँ वे झिझक उठे। आँखें मीच फिर उसी ओर देख सोचने लगे—"क्या मैं जो कुछ कर रहा हूँ······? सम्मान, प्रतिष्ठा का यह राजसभाव कैसा? यह किसकी कल्पना गगन-पटल पर यों देख रहा हूँ?"

मालाएँ पहनाई गयीं, हाथ उठाकर जयजयकार हुये। फिर फिर देखा, परन्तु वही दृश्य स्पष्ट देखा।

देर बाद बहुत से तारे टूट कर उस चित्र के चारों ओर ज्योतिर्मय तोरण हो गये।

आज दस बजे दिन ज्योंही वे अपनी कहानी लिख उठ रहे थे, एक व्यक्ति उनसे मिलने आया, जिसे उन्होंने कभी न देखा था। उसने उन्हें कुछ हस्तलिपियाँ दीं जो पुस्तक तथा कापी के आकार में नत्थी थीं। उन्होंने पूछा—"आप कौन हैं?" उत्तर में आगन्तुक ने एक रुक्का दे दिया। उसमें लिखा

था—मैं भी एक स्वयं सेवक हूँ। आपको सरकार के काले कारनामों से आगाह करता चलूँगा।" फिर उसने कुछ न कहा और चल दिया।

वह शायद वही वाइसराय का अर्दली था। लेकिन चेहरा ऐसा बना लिया था कि कोई पहचान नहीं सकता था। योगेन्द्र इस ऐयारी तथा जासूसी रहस्य से चकित रहे। लेकिन और चकित तो तब हुये जब उसे पढ़ने लगे। जैसे दाँतों उँगली दबा उसकी नकल की गयी थी, वैसे ही पढ़ना भी पड़ा। वह उनके, कांग्रेस तथा संघ के बड़े काम की चीज थी।

× × × ×

देवी चन्द्रावती को अच्छा हो गया, परन्तु आरोग्यलाभ का समाचार उन्हें तब मिला जब वे जेल से बाहर हो गये। इसके उपलक्ष्य में देश-व्यापी उत्सव मनाया गया।

अनवरत परिश्रम से योगेन्द्र और चन्द्रावती को बहुत बड़ी थकान आ गयी। डाक्टरों ने उन्हें कुछ विनोद और निर्विघ्न विश्राम लेने की सलाह दी। इधर कांग्रेस तथा संघ की बैठक में कर बंदी आंदोलन का प्रस्ताव पास हो गया। पर उन्हें लोगों के अनुरोध से इससे निश्चित हो विश्रामार्थ भ्रमण करने जाना पड़ा।

लोगों की थकान अब दूर हो गयी थी। वे नये आंदोलन में नये उत्साह और नयी स्फूर्ति के साथ जुट गये। दमन का प्रभाव कुछ उलटा पड़ने लगा। जिस स्वाधीनता के लिए हमारे इतने भाइयों की कुर्बानियाँ हुईं और हुयी जा रही हैं, उससे किसी भी तरह मुख मोड़ लेना धिक्कार की बात है, जनता में ये भाव जग गये। वे सोचने लगे हमारे शहीदों की आत्मा तभी शांत होगी जब हम उसे प्राप्त कर लेंगे, या उस पर कुर्बान होते चलेंगे।

× × × ×

पहले हमारे नेताओं ने लंका, सुमात्रा तथा जावा आदि द्वीपों की यात्रा की, क्योंकि अभी ये स्थान अनदेखे थे। सेतुबंध रामेश्वर से, जहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम-राम की पुरातीत स्मृतियों से वे आनन्द-विभोर हो गये, प्रयाण करते ही उन्हें स्वागत की प्रतिध्वनि और प्रकाश-सा मिलने लगा। जनता ने उनके वहाँ उतरते ही स्वागत-सभा का आयोजन कर रक्खा था। यदि स्वागत के सभी गजरे उन्हें पहनाये जाते तो वे भूगर्भ-स्थित अतीत वैभव की भाँति अदृश्य हो जाते। उनके

भाषण तथा सभा की कार्यवाही पूरी हो जाने पर जनता ने उन्हें एक लाख की भेंट उपस्थित की।

जहाँ वे टिकते वहाँ फल-फूल, दूध-दही, शाक-भाँजी आदि के उपहारों से घर भर जाया करता। वे उन्हें अस्पतालों तथा सार्वजनिक स्थानों में भेज दिया करते। वहाँ उन्हें भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ देख बड़ी शांति मिली। उन मूर्तियों जैसी करुण, उदार एवं शांतिपूर्ण मुद्रा तो उन्होंने कहीं न देखी थी। ऐसा था कि देखनेवाले को कुछ घड़ियों तक, कुछ दिनों तक, कुछ वर्षों तक वह शांति अपनाये बिना रह नहीं सकती थी।

एक मूर्ति उन्होंने अपने पास रख ली। रात को जब घर में देवी जी के साथ अकेले रहते तो वही प्रतिमा देखते और भगवान बुद्ध के विषय में बातें किया करते। उस मुद्रा को देख वे बहुधा समाधिस्थ हो जाया करते। एक बार कहा—"भाभी, जीवन की यह आखिरी मंजिल अभी न जानें कितने तूफानों और संघर्षों के बाद आयेगी।"

बहुतेरे बौद्ध भिक्षु तथा सन्यासी भी उनसे मिले। उन्हें इस बात से बड़ाही सुख और संतोष हुआ कि इस संसार के प्रतीक प्रतिनिधि की उस शांतिमय विश्व में भी इतनी पहुँच थी। उन सन्यासियों में एक विचित्र वैराग्य और शांति थी जिससे उन्हें बड़ा आनन्द मिलता।

एक दिन एक भिक्षु ने कहा—"जब आप भगवान् बुद्ध हो जायेंगे तो हम-लोगों को भी शरण देंगे? वह अभ्युदय बहुत दूर नहीं।" वे सुमधुर, सुस्मित, आलोकमयी मुद्रा से बोले—"भगवान करें आपके ये आशीर्वाद सत्य हों। आप महात्मा हैं।" कस्तूरबा भोजन की ओर देख गंभीर विचारों में मग्न हो गयीं।

उनसे मिलने तो सभी जमात के लोग आते, परंतु इन सन्यासियों का सत्संग अधिक रहता। वे उनके साथ उन पवित्र स्थानों पर जाते जो राम तथा बुद्ध के इतिहासों से अजर-अमर हो गये थे। वहाँ वे घंटों रहते और पुनीत वृक्षों से शांति और शुद्धि लाभ करते।

कुछ विचित्र प्रतिभा, प्रकाश था हमारे नेता में। योद्धा उन्हें योद्धा, राज-नीतिज्ञ राजनीतिज्ञ, कवि कवि तथा सन्यासी सन्यासी समझ सुख पाते।

जो धन वहाँ के लोगों ने दिया था, उतना ही संघ के कोष से मँगवाकर

उन्होंने वहाँ एक सार्वजनिक सेवा-संघ स्थापित किया। उसके विधान, सभापति उपसभापति, मंत्री, सदस्य आदि निश्चित कर वे वहाँ से सुमात्रा को रवाना हो गये। जैसा स्वागत हुआ था, वैसी ही विदाई भी हुई—वह हँसते-हँसते, यह रोते-रोते।

सुमात्रा में भी वैसा ही स्वागत हुआ। परन्तु वहाँ अतीत स्मृतियों को जगाने वाले सुस्मारक तथा उन सन्यासियों का सा समाज न था। कुछ दिनों पर जावा की यात्रा हुई। वहाँ भी वही स्वागत, वही उत्साह। वहाँ भी सार्वजनिक सभाएँ हुईं जिनसे उन्होंने अपने संभाषण में स्वाधीनता और विश्व-प्रेम के संदेश सुनाये और संघ स्थापित किये।

समाज तथा संसार की आँखों से गिरे हुये परतंत्र देश के रूखे-सूखे चेहरे वहाँ भी सहृदयों के आँसू के भूखे थे। एक रात योगेन्द्र उन्हीं आकृतियों को अपने विचारों की रंगभूमि में देख अतीव खिन्न हुये बैठे थे। इस यात्रा में यह मुद्रा उनमें चन्द्रा ने प्रथम बार देख कर पूछा—"आज किन विचारों में विलीन हो?"

एक लंबी साँस ले उन्होंने कहा—"भाभी, देखता हूँ कि संसार में और देश में अल्प सुखी और अधिक दुखी हैं। जो सुखी भी दीखते हैं, वे बस उन्माद के, नशे के सुख में। नशा उतर जाने पर वे कहीं के न होंगे। जब वे रूखी-सूखी आकृतियाँ सामने आती हैं, जो न कभी खिलीं, न हँसीं, न हरी हुईं, न उत्सव मनाया, तो ऐसा होता है कि क्या ये बिना खिले ही केवल मुरझाने को हैं—क्या इनमें वसंत आने ही को नहीं? एक बार इन जीर्णशीर्ण कंकालों में भी जीवन आ जाता, एक बार कहर के आँसू और सिसकियाँ भी कहकहा मार हँस देतीं, उल्लास से भर जातीं!"

चन्द्रा ने कहा—"तुम, तुम्हारी मुद्रा स्वयं इस वसंत के विधायक हो।" वे बोले—"भाभी, तुम मेरे श्रम का विश्राम और व्यथा का विनोद हो। तुम अपने भावों के चित्र मेरे आशामुकुर में प्रतिबिम्बित कर मुझे दिखाती और आकर्षित किया करती हो।"

यों कहते-कहते वे फिर विचार-मग्न हो गये। चन्द्रा भी न जाने क्या सोचने लगीं। देर बाद, जैसे जगकर, उन्होंने पूछा—"अबकी क्या सोच रहे थे?"

वे बोले—"भाभी, देख रहा हूँ कि विश्व की अभिलाषाएँ कितनी उत्सुकता और आशा से तृप्ति के कल्प-तरु पर चढ़ रही हैं। वे उठती, लड़खड़ाती, लरबराती, गिरती जाती हैं और वह तरुवर जैसे और ऊँचा उठा जाता हो। कहाँ ये बामनों की सी इच्छाएँ और कहाँ वे गगनचुंबी शाखाएँ! कुछ जो पहुँच पाती हैं, आँखें और मन जैसे उनके आकार-प्रकार ही न देख, न समझ पाते हों! देखो कितनी भीड़ लगी है इस वृक्ष के नीचे! जैसे फल के टुकड़े किसी ने डोरियों में बाँध आकाश से लटका दिये हों और नीचे चिड़ियों के बच्चे जो अभी पूरा उड़ न सकते हों, उचक रहे हों; और ज्यों-ज्यों वे ऊपर जायँ त्यों त्यों वह खिलाड़ी उन्हें भी ऊपर खींचता जाय। यह कैसा ललचाना है!"

"ओह! कैसी निराशा है!"

जावा में एक जगह मैले-कुचैले, दीन-दुर्बल, क्षुधार्त बच्चों को अपनी गोद में उठा उन लोगों ने कहा था—"बेटा, रोओ मत। तुम भावी के सूत्रधार, नव-युग के अग्रदूत तथा साम्यप्रसारिणी क्रांति के प्रेरक हो। स्वाधीन हो देश को स्वाधीन बनाओ।" इन स्वल्प शब्दों तथा आलिंगन ने जनता में उत्साह और प्रेम की नूतन धारा बहा दी। उनके भरण-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा के लिये अपने संघकोष से एक नयी संस्था ही स्थापित कर दी। एक दिन भेंट में आयी हुई सामग्रियों से बहुत बड़ा भोज दिया। उन निरीहों को, उन क्षुधार्त्तों को—जिनका पेट कभी रूखी-सूखी वस्तुओं से भी न भरता—अपने हाथ से परोसकर खिलाया। इस कार्य में वहाँ के बड़े लोगों ने भी—जिन्हें ऐसा सेवा-सत्कार कल्पनातीत तथा घृणास्पद और अपमानजनक था—सहयोग दिया था।

एक दिन समुद्र के किनारे योगेन्द्र ने कहा—"इस वसुंधरा तथा महासागर के वक्ष पर महाकाश के आलिंगन में अपने दिन और अपनी रातें होतीं।"

"मुझे ऐसा होता है कि तुम्हारी कोई अभिलाषा अपूर्ण न रहेगी, क्योंकि वे अखिल विश्व की ही अनभिलाषा होती जा रही हैं।"

"भाभी!"

अंडमान में उन्हें बहुतेरे कालापानी के अपराधी मिले। कितनों की अतीत स्मृतियाँ मर चुकी थीं, कितनों की मर रही थीं, कितनों की अभी ज्यों की त्यों थीं,

अर्थात् उनकी उर्मिलता पांचाली की चीर-सी बढ़ रही थी। मारनेवाली आकृतियों को वे दूर-दूर देख काँप उठते। उस मीठी याद में वे कराह रहे थे।

एक जगह चर्चा हो रही थी—"मेरी स्त्री और दोनों बच्चे न जाने कैसे होंगे? उनका पालन-पोषण कैसे होता होगा? वे रो रो मरते होंगे वहाँ, मैं यहाँ। कोई अपराध भी न किया और सात समुंदर पार भेज दिया गया। इस राज में कोई जाँच-पड़ताल नहीं, मनमानी हो रही है। आह! इस जन्म में फिर अपना देश, अपनी जन्मभूमि, अपना घर, अपने मित्र, अपने स्त्री-बच्चे देखने को नहीं मिल सकते। एक बार उन्हें उन सबको देख लेता। अब तो मृत्यु भी नहीं पूछेगी। मेरे प्यारे बच्चो! मेरी प्राण प्यारी!'

एक जगह एक कैदी से—जिसकी स्मृतियाँ मृतप्राय हो चुकी थीं—एक स्त्री से बातें हो रही थीं। वह कह रही थी—"वादा करो कि तुम घर न जाओगे तो मैं तुमसे शादी कर लूँ। छूटकर घर भी ले जाओगे साथ तो मैं सौत देखने क्यों जाऊँगी?'

एक जगह कुछ कैदी जिनके छूटने का समय निकट था, घुल घुल बातें कर रहे थे। वे अपने नवजीवन के उत्सव में कल्पना की रंगभूमि पर नव नव उमंगों से अपनी जन्मभूमि, अपने पुरजनों, परिजनों के नाना मनोरम चित्र खींच रहे थे। जहाज सागर के वक्ष को फाड़ता हुआ उनकी जन्मभूमि को चला जा रहा था।

वे जिनकी पूर्व स्मृतियाँ मर चुकी थीं, घर की बातें सुनते, तो उनकी विस्मृति की तमिस्रा में धुँधली स्मृति का एक तारा-सा चमक जाता। वे सिहर उठते, चकपका उठते।

नेताओं को उन कहानियों से बड़ा दुःख हुआ। कैदियों ने उनसे कहा—"आप लोगों के आने से हम जैसे घर पहुँच गये हों। जन्मभूमि के दर्शन कब देंगे? आपके चले जाने पर हमारे दिन कैसे कटेंगे?"

वे उन्हें पूर्ण आश्वासन दे एकाध जगह और होते हुए, देश को लौट आये। एक जहाज ने हमारे जीर्ण-शीर्ण, थके-माँदे नेताओं को उस पार उतार दिया था, दूसरे ने हृष्ट-पुष्ट पूर्ण स्वस्थ नेताओं को इस पार देश में पहुँचा दिया।"

यहाँ आकर वे सभी प्रान्तों में घूमते रहे और उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक तथा मानसिक स्थिति और उत्कर्ष अपकर्ष परखते रहे। एक बात उन्हें जाति एवं वर्ग-संघर्ष की बहुत खटकी, जो देश की जातीय तथा राष्ट्रीय प्रगति को धक्का देनेवाली थी। उन्होंने सभी प्रान्तों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति में एक सार्वजनिक सभा में कहा—"इस बार लंका आदि द्वीपों से आकर देश के प्रायः सभी भागों में बहुत दिनों तक जो भ्रमण करता रहा उसमें मुझे एक बड़ा ही कटु अनुभव यह हुआ है कि हमारे देश की विविध जातियों, वर्गों तथा सम्प्रदायों में बड़ा ही द्वेषपूर्ण अन्तः संघर्ष चल रहा है जो हमारे राष्ट्रीय संघटन में बाधक हो उसकी शक्ति और प्रगति को बहुत कुछ रोके हुए है।

बहुत-सी सामाजिक शिक्षासंबंधी एवं औद्योगिक संस्थाएँ जो किसी जाति विशेष से स्थापित की गयी हैं, अन्य जातियों तथा वर्गों के प्रति द्वेष और स्पर्द्धा की ही नींव पर खड़ी हुई हैं। उन्हें हम कभी सार्वजनिक नहीं कह सकते, चाहे वे सर्वजन के काम आती भी हों। उनमें सार्वजनिक उन्नति का नहीं, स्वजाति उन्नति का ही तामसी भाव भरा है। हम सत्याग्रह के राष्ट्रीय सेना के सैनिक हैं, हमें इतनी मर्यादित सीमा के भीतर रहना वाँछनीय नहीं। हम तो समग्र देश को, समग्र विश्व को अपना कुटुम्ब बनाने जा रहे हैं--जो हम सदा से करते आये हैं, और जो वास्तव में है।

न्याय-विरोधी, विश्व-विरोधी, देश-विरोधी जातिसंगठन जो इस समय चल रहे हैं बहुत ही हेय और प्रगति-विरोधी हैं। हमने देखा है कि जिससे किसी दूसरी जाति के किसीसे कोई लड़ाई-झगड़ा चाहे वह अन्याय पर ही क्यों न हो,—उसके जातिवाले उसीकी सहायता तन-मन-धन से करते हैं। यह संगठन नहीं, विच्छेद है, संहार है।

हमें न्याय और सत्य का पक्ष लेना चाहिए। वही अपना है जो इनके पक्ष में हो और वही पराया है जो इनके विपक्ष में हो। हमें अपने किसी भी अन्याय पर चलते हुए के विरुद्ध किसी भी न्याय पर चलते हुए बेगाना, विदेशी की ही सहायता करनी चाहिए। जब तक ऐसा संगठन न होगा तब तक कोई भी देश तथा विश्व शांति और समृद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। न्यायदत्त अशांति एवं

असमृद्धि भी अन्यायदत्त शांति तथा समृद्धि से कहीं अधिक सुखदायिनी और भूतिमय है।

२०

सरकार से समझौते होते रहे—गोलमेज सभा में देश के प्रतिनिधि फुसलाये जाते रहे—देश की स्थिति और माँग पर विचार करनेवाले, समय टालनेवाले, उलझानेवाले, बहकानेवाले, आन्दोलन शिथिल बनानेवाले कमीशन आते रहे; लाठी चार्ज और फायर चलते रहे, गिरिफ्तारियाँ और नजरबंदियाँ होती रहीं, अपने अधिकारों के लिए अहिंसात्मक संग्राम करनेवाली संस्थाएँ अवैध घोषित की जाकर निषिद्ध और अधिकृत होती रहीं—, परंतु देश स्वाधीनता के पथ पर बढ़ता ही जा रहा था।

देश के जेल फिर ठसमस हो गये। सभी प्रमुख नेता नजरबन्द कर लिये गये। उसमें एक घटना उल्लेखनीय है—

एक रात योगेन्द्र के पास, जहाँ वे अकेले बन्द थे, बड़े ही विकट और भयावह स्थान में एक अफसर तीन-चार सशस्त्र सैनिकों के साथ आया। वे भाले, बँन्दूकें तथा नंगी तलवारें लिये हुए थे। एक कोई बहुत बड़ा अफसर और था जो फाटक पर योगेन्द्र से अदृश्य था।

वे चकपका गये कि इस वेश में इस स्थान पर इनके आने का प्रयोजन। नजरबन्दी में भी कोई नजरबन्दी है क्या ? उन्होंने पूछा—"आप लोग कैसे आये ?"

अफसर—राजविद्रोह के अपराध में आपको प्राणदण्ड देने का आदेश हुआ है। अब भी आप इस काम से दूर हो जाने की सौगन्ध ले लें तो आपको सरकार क्षमा दे सकती है। इतना ही नहीं, राज्य में बड़ा से बड़ा पद जो आप चाहें वह भी दे सकती है। नहीं इसी क्षण इन सैनिकों से आप अवसन्न कर दिये जायेंगे।

योगेन्द्र—आप कौन अफसर हैं ?

अ०—इससे क्या अभिप्राय ? कोई भी हूँ, हूँ मैं सरकारी अफसर।

यो०—यह सरकार का आदेश है, या आपका व्यक्तिगत ?

अ०—क्या आप जैसा जानकार भी यह प्रश्न पूछ सकता है ? इस राज्य में······ ।

यो०—इस राज्य में जैसे यह आदेश आपका व्यक्तिगत आदेश नहीं हो सकता, वैसे ही यह सरकार का भी नहीं हो सकता। संसार जब बहुत बर्बर था शासक असुरों की भी श्रेणी से ऊपर न उठे थे, तब मनुष्य गुलाम बनाए जाते, शेरों के सामने सरकस में फेंक दिये जाते, इस तरह मारे जाते, घुलाघुला मारे जाते—अमानुषी यातनाएँ दी जातीं। इसका कुछ प्रतीक मुसलमानी शासन भी तो अब नहीं है। यह सरकार भी अत्याचार कर रही है, परंतु ऐसे नहीं।

अफसर सहम गया, पर अपनी मुद्रा ज्यों की त्यों रखते हुए बोला—"आदेश ऐसा क्यों हुआ, यह हम नहीं कह सकते; परंतु इसका पालन तो होगा ही। आप शीघ्र निर्णय कीजिए, नहीं आदेश-पालन अभी होगा।

योगेन्द्र ने अविलंब कहा—"निर्णय! निर्णय क्या करना है ? हम अपने अधिकार चाहते हैं, देश की स्वाधीनता चाहते हैं, और कोई पद नहीं। मेरी एक बलि क्या, इसके लिए हम सभी स्वाहा होने को तैयार हैं। मरनेवाले को मरने से क्या भय ? चाहे वह जब और जैसे मरे, मरे सत्य और न्याय के लिए। और हम, वास्तविक हम तो अमर हैं। न्याय और सत्य के लिए मरना अमरता है। यों मर कर हम अपने ही को अमर नहीं बना जाते, अपितु आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी स्वर्गसोपान निर्मित कर जाते हैं। कहो तलवार लेकर तुम्हारे साथ मारूँ, मरूँ, कहो खाली हाथ। परंतु तुम अंधों, कायरों से युद्ध क्या ? कह दो तुम्हारे सैनिक अपना काम करें।"

इतना कहना था कि सभी तलवारें उनकी गर्दन पर झुक गयीं और सभी बन्दूकें छूट गयीं। वातावरण सन्न ! परंतु वह कर्मयोगी ज्यों का त्यों खड़ा रहा, उसकी पलकें भी न गिरीं, भौंहों में बल भी न आया। तलवारें रुकी रहीं, बन्दूकों के निशाने अन्यत्र पड़े। परंतु तत्क्षण बिजली की शक्ति सन्न सी उनके पैरों

से चढ़ने लगी। वे सन्न होने लगे। पूछा गया प्रतिज्ञा स्वीकार हो तो पावर हटा लिया जाय, नहीं तो आप क्षण भर में अवसन्न हो जायँगे।

"न स्वीकार है, न होगी।"

बिजली की शक्ति अधिक व्याप्त हो गयी और वे अचेत हो गिर पड़े। परंतु शक्ति तुरंत खींच ली गयी और डाक्टरों ने नासापुटों से कोई संजीवनी भरी। वे होश में आने लगे। कुछ देर में उठ बैठे। फिर वहाँ किसी को न देखा, जैसे नाटक का पटाक्षेप हो गया हो, स्वप्न भंग हो गया हो।

इस घटना के महीनों बाद एक बड़ी ही रोचक घटना घटी। योगेन्द्र ने अपने को एक खुले, स्वच्छ, सुचौरस आँगन में पाया। बड़ी ही मदिर वसन्त रजनी थी। उसमें एक मौलश्री और एक आम का पेड़ था। परंतु शुभ्र शीतल ज्योत्स्ना की मधुर क्रीड़ा के लिए अभी पर्याप्त अनावृत स्थान शेष था। विशद प्रांगण में दो-चार कुर्सियाँ और दो एक सोफे भी खूब सजे-सजाए पड़े थे। पुष्प-पराग पवन में उड़-उड़ मनोमोहक गंध फैला रहे थे। ऐसा लगता मानो मनसिज पवन की पिचकारी से वशीकरण रस के फुहारे उड़ा रहा हो। कोयल आम की मंजरियों से कूक कूक प्रेम की विजय घोषणा कर रही थी। सुशीतल, सुहासित ज्योत्स्ना अखिल विश्व को अपने सरस क्रोड़ में आलिंगित किये हुये थी। अरे यह प्रेम का रसीला, सजीला संसार, आनंद, आलिंगन, प्रत्यालिंगन की उमंगें किसके लिए? योगेन्द्र एक तपस्वी बंदी के लिए?

योगेन्द्र प्रेम-विमुग्ध नहीं, विस्मय-विमुग्ध हो ऊपर-नीचे, इधर-उधर देख रहे थे। वह रजनी, वह पराग, वह काकली, वह मधुर मलय स्पर्श। उनकी अतीत स्मृतियाँ जाग पड़ीं। उन्हें चन्द्रा और सविता की मधुर याद आने लगी, जिनके साथ ऐसी कितनी रातें बीत चुकी थीं, जब जीवन में न कोई चिंता थी, न उसे उत्पन्न करनेवाली चाह। वे मन में कहने लगे—"कैसा है यह संसार! कहीं आँधी चल रही है—घोर संघर्ष हो रहा है—स्वार्थ स्वार्थों से टकरा रहे हैं—जीवन जीवन को हड़प करता जा रहा है—, और कहीं ऐसा शांत आराधन, प्रेमावाहन! जीवन क्या है, हमारा लक्ष्य क्या है—संघर्ष, अशांति, या शांति? संघर्ष भले हो, परंतु चाहते हैं हम असंघर्ष; अशांति भले हो, परंतु चाहते हैं हम शांति; विरह भले हो, परंतु चाहते हैं हम परिरंभण।

तब तक द्वार खुल गया और एक अतीव रूपवती तरुणी ने भीतर प्रविष्ट हो पीठ पीछे द्वार बंद कर दिया। वह पूरा शृंगार किये हुये थी। उन्हें हो आया कि सविता ही आ गयी। वे कहने ही जा रहे थे--'सविता', परंतु रुक गये, जैसे स्वप्न से जाग पड़े हों। विस्मित हो उसकी ओर देखने लगे। वह उनके निकट आ बैठ गयी। उन्होंने पूछा--"तुम कौन हो, यहाँ कैसे आयीं ?"

रमणी--मैं वही हूँ जो आप देख रहे हैं और आयी हूँ आपके साथ रहने, आपकी सेवा करने।

योगेन्द्र--हमारे साथ जेल में रहने ? तुम देश सेवा के प्रयास में कोई दंड पा गयी हो कि हमारे साथ जेल में रहोगी ? तुम्हें सेवा की लगन है तो इस समय इस दीन दुखी देश की सेवा से बढ़कर और कौन सेवा होगी ?

र०--कोई ऐसा प्राणी नहीं है जो आपके हृदय में आश्रय न पा सके। मुझे क्यों कैदी होकर ही आश्रय मिले ? आप देश की, विश्व की सेवा कर रहे हैं, तो क्या मैं आपकी सेवा कर उन दोनों की सेवा नहीं कर लेती ?

यो०--मेरी कौन-सी सेवा करोगी सिवा इसके जो मैं कर रहा हूँ ? स्पष्ट कहो तुम कौन हो, क्या चाहती हो ?

वह तरुणी उनके सानुरोध निषेध पर भी वहाँ दिन रात रहने लगी। उनके बिस्तरे ठीक करती, आँगन साफ करती, भोजन लाती। वे परेशान थे। वह उनसे नाना विषयों पर बातें किया करती जिससे ज्ञात हुआ कि वह विदुषी थी। फैशन उसका बिल्कुल अप्टूडेट था, परंतु साड़ी का लिबास उसे अधिक पसन्द था।

उन्हें अपनी परिस्थिति तिलिस्मी कैदियों-सी लग रही थी। इस समय वे चन्द्रकान्ता उपन्यास के वीरेन्द्र सिंह थे--खाना-पीना, सोना, सत्कार, आश्चर्य सब कुछ वैसा ही। वही रमणी उनके सामने नाना वेशों में सज आती--कभी वनकन्या, कभी चन्द्रकान्ता, कभी सब्ज, कभी सुर्ख। अन्तर इतना ही था कि इसे अपना रूप छिपाना न था।

कभी कभी वे मन में कहते--"तिलिस्मों का बीता हुआ समय यह कहाँ से आ गया ? ये तिलिस्मी करामातें हमें वह कोष कहाँ से देंगी जो हम चाहते हैं ?"

एक महीना बीत गया और वह उसी तरह उनके साथ बनी रही।

वह धीरे-धीरे उनके हृदय के निकट पहुँचना चाहती थी। वह अपने रूप

और हाव-भाव के ब्रह्मास्त्र तथा विद्वानों के सिद्धांतों से नव युवक कर्मयोगी को अपने रंग में लेना चाहती थी। इसके लिए--जिसके लिये एक क्षण भी पर्याप्त होता है--उसने इतना लंबा समय दिया। अब धीरे-धीरे अपने निगूढ़ भाव वह प्रकट करगे लगी। क्रमिक विकास से वह यहाँ तक पहुँच गयी--"क्या आप प्रकृति के नियमों का उलंघन नहीं कर रहे हैं? संयम, नियम, तितीक्षा जो कुछ भी होता है, आनंद के ही लिए। उन्हें कोई निष्प्रयोजन या उनके ही लिए अपने जीवन का अंग नहीं बनाता। इस तरुणावस्था में आप अपने को अविवाहित रख क्या प्रकृति तथा अपने साथ अन्याय नहीं करते, और तब जब आपका विवाहित होना आपकी लगन का साधक ही होता, बाधक नहीं? फिर वह अनुष्ठान ही कौन, वह लगन ही कौन जो जीवन के प्रशस्त पथ तथा कर्तव्य का बाधक हो?

यो०--यह सब यथार्थ है; परंतु मैं इस परिस्थिति में हूँ तब तो?

र०--हैं तो। क्या मेरी इच्छाओं, मेरी उमंगों को आप नहीं कुचलते आ रहे हैं?

यो०--अबोध बालकों की सभी इच्छाएँ कब पूरी की जा सकती हैं, और वे जो गुप्त हों?

र०--मेरी इच्छाएँ न अबोध बालक की ही हैं, न गुप्त ही हैं। प्रकृति के अणु-अणु में, मानव के रोम-रोम में जिस प्रेम-क्रीड़ा का कलोल है--सर्वत्र ही जो क्रीड़ा हो रही है, उसकी उमंग मेरी इस समय बालकों की उमंग कैसे? मेरा रोम-रोम, मेरी गति-गति जिसे अनुगत कर रही है, वह गुप्त कैसे?

यो०--मानता हूँ, लेकिन तुम कौन हो और यहाँ कैसे, किस अभिप्राय से आयी हो सच-सच कहना?

वह सहम-सी गयी। अपने को धक्का दे उसी पूर्वनिर्दिष्ट प्रवाह में बहना चाहा, परंतु न हो सका। जैसे सूर्य के प्रकाश में तिमिर का प्रसार नहीं हो पाता, वैसे ही उनके सामने वह झूठ न बोल सकी। उसने कहा--"पहले मैं यहाँ असत्य अभिप्राय लेकर आयी, परंतु वह सत्य हो गया, और इसी से अधिक सुदृढ़ भी हो गया।

यो०--तो तुम ।

र०—जी हाँ, मैं आपके पास भेजी गयी थी।

यो०—किससे और क्यों ?

र०—सरकार से; आपको रूप-पाश से पथ-भ्रष्ट करने—स्वतंत्रता के संग्राम से विरत कर साम्राज्य के उच्च से उच्च पद और ऐश्वर्य का उपभोग देने के लिए। परंतु अब इसके लिए क्षमा चाहती हूँ। अब मैं आपको विरत नहीं करना चाहती, चाहूँ भी तो समर्थ नहीं। परंतु आपको मैं जैसे चाहती हूँ वैसे अपनाइए।

यो०—क्या मेरे जीवन का इतिहास··· ?

र०—ज्ञात है। आप का विवाह सविता देवी से हो चुका है—यही न ?

यो०—तो मैं तुम्हारी इच्छाओं को · ?

र०—यह तो आप अननुसरणीय प्राचीन रूढ़ियों तथा हेय नैतिक बंधनों में बँधकर ही कह सकते हैं, जो शोभा नहीं देता आप को जो स्वतंत्र विचारों और व्यापक सिद्धांतों के समर्थक और अनुयायी हैं। स्त्री या पुरुष दाम्पत्य प्रेम के विषय में जो इतने मर्यादित हैं उसके मूल में स्वार्थ और द्वेष की ही पराकाष्ठा तो है। प्रत्येक वस्तु के उपभोग की अधिकाधिक व्यापकता ही उच्च समझी जाती है, तो इसमें यह अपवाद क्यों ? महापुरुषों का तो अपना सब कुछ सबका है, फिर इस विषय में ऐसी संकीर्णता और निषेध कैसा ? स्वार्थ की इस संकीर्णता और काम-जनित द्वेष का आखेट होना महापुरुषता तो है नहीं। जिस परमार्थ की वेदी पर वह अपना सर्वस्व सहर्ष परोपकार में दे देता है उस पर यह स्त्री-पुरुष का स्वत्व या सुख क्यों नहीं ?

योगेन्द्र ने कुछ विस्मय से कहा—"कदाचित् अव्यवस्था तथा अशांति ही इसके मूल में है। स्यात् मानव इस स्वार्थ-क्षति और द्वेष को सहने में असमर्थ था। इसलिए उसने परार्थ स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य विषयक उत्सर्गों को अनार्य, अशिष्ट कह अपवाद कर दिया।"

र०—जितनी अव्यवस्था, अशांति इसके निषेध से है उतनी इसकी विधि से न होती। और यदि मनुष्य इस क्षति तथा द्वेष के सहने में असमर्थ था, तो उसे समर्थ होना चाहिए, न कि अपनी दुर्बलताओं को छिपाने के लिए अपने रचे हुए अधर्म को धर्म कह उसकी आड़ में छिपना। मुझे तो विश्वास है कि तब न तो कोई क्षति, द्वेष रहता, न उसका अनुभव होता। और यदि

वह सबके लिए दुःसाध्य है, तो आप सरीखे महापुरुषों के लिए तो साध्य है। आप तो मानव के आदर्श हैं, आप उसे उच्चता को न ले जायँगे तो और कौन ?

हाँ, तो अधिक से अधिक आप यही कह सकते हैं कि आप सविता देवी के आदेश बिना मेरी इच्छा नहीं पूर्ण कर सकते। लेकिन आप इसे पूर्ण करके उनसे कह सकते हैं। स्त्री-पुरुष की वैवाहिक प्रतिज्ञा पर स्त्री-पुरुष के संयोग से वंचित रहना, प्रत्येक कार्य एक दूसरे के सहयोग और सहमति से करना है, या क्या है ? ये दो जीवन एक हो कर संसार के साथ भी क्यों न एक हों ? यदि उनकी प्रतिज्ञा अधूरी या यथेष्ट नहीं है तो उसे पूरी और यथेष्ट बनाना चाहिए कि वही लकीर का फकीर बना रहना चाहिए ? यदि सविता देवी आप को मना कर दें, या आप का साथ न दें तो आप अपने इस सेवा-कार्य से, कल्याण-मार्ग से विरत हो जायँगे ? क्या आप सविता देवी के केवल द्वेष के कारण मेरी हार्दिक, प्राकृतिक अभिलाषा को अतृप्त रख महापुरुष कहला सकते हैं, जिसके परोपकार में कोई अनुचित या तुच्छ प्रतिबन्ध न होना चाहिए ? यदि हम या आप एक दूसरे को प्रकृति की प्रेरणा से ऐसा चाहें कि बिना मिले प्राणों की बाजी लगानी पड़े, और हम कोई क्षति पहुँचाए, या उठाये बिना एक दूसरे को तृप्त कर सकें तो भी क्या एक दूसरे को मर जाने दें ?

स्त्री-पुरुष का यह बंधन जो सबकी आंतरिक अभिलाषा एवं साम्य के विरुद्ध और अतीव स्वार्थ द्वेष पूर्ण तथा संकीर्ण है क्यों रहने दिया जाय ? हम किसी को पुत्र, मित्र, भाई, बहन, माता, पिता सब कुछ मान उसे वैसा बरत सकते हैं तो स्त्री-पुरुष मान वैसा क्यों न बरत सकें ? यह संबंध सबका अपवाद और दूषित क्यों समझा जाता है ? जो संबंध तथा नियम विश्व के साथ एकाकार होने की जितनी ही क्षमता रखता हो वह उतनाही पुनीत, अनुसरणीय और उच्च है।

मेरी इच्छा तृप्त कीजिए या उसे विश्व साम्य अथवा व्यापकता का विरोधी सिद्ध कीजिए।

× × ×

वहाँ से वे, कुछ दिनों में, उस जेल में भेज दिये गये, जहाँ अपनी कोठरी

से बाहर निकल अद्रिराज के तुषाराच्छादित, गगनचुंबी धवल शृंगों को देख सकते थे—उस उत्कृष्ट महाकाव्य को पढ़ सकते थे—उस त्रिकालदर्शी महर्षि से वार्तालाप कर सकते थे। परंतु जेल की यह कोठरी बहुत तंग, अस्वस्थ तथा विविध जन्तुओं से अरिक्त थी और जेल का घेरा भी बहुत छोटा था। छिपकली, बर्रें—कभी-कभी बिच्छू और सर्प भी—बिल्ली और एक कुत्ता (जो शायद जेलर का था।)—यही सब उनके साथी थे।

वे किसी जीव को हानि पहुँचाना नहीं चाहते थे, जब तक वे उन्हें विवश न कर देते। उस साम्राज्य में भी उन्होंने वही अराजकता देखी जिसके विरुद्ध वे युद्ध कर रहे थे। छिपकली दिन में छिपे छिपे और रात में प्रत्यक्ष अपना शिकार करती। वह कितने छोटे-छोटे जन्तुओं को निगल जाती और वे छोटे-छोटे जन्तु भी अपने से छोटे-छोटे कीड़ों को निगल जाते। ऐसे ही जन्तु जन्तु को—कोई निरापद नहीं था। वह दृश्य देख वे महात्मा बुद्ध के वैराग्य से वंचित न रहते।

वे जीव-जन्तु उनसे इतने परिचित हो गए थे कि अब उनसे उतने भय-भीत न रहते। उन्हें विश्वास हो गया था कि उन्हें उनसे कोई क्षति न पहुँचेगी। दीवाल पर छिपकली बहुत देर तक पता नहीं उन्हें देखा करती अथवा अपने शिकार को। कभी साँप भी सामने आ जाते, मानो कुछ संगीत सुनना चाहते हों। वे शायद उनके मन का भाव समझ जाते और उन्हें बंशी सुना दिया करते।

गिलहरियों में शायद सामाजिकता और विश्वास अधिक होता है; क्योंकि वे, बहुधा जब वे अपनी कहानी लिखने अथवा कोई पुस्तक पढ़ने लगते तो निःशंक उनके किसी न किसी अंग पर आ बैठतीं।

एक बंदर तो खूब ही परच गया था। जब वे उस प्यारी बिल्ली, कुत्ते तथा गिलहरियों को खिलाने लगते तो वह भी पेड़ से नीचे कूद आता। वह तो बहुत कुछ सीखने लग गया था। कभी-कभी उनकी पुस्तक के पन्ने ठीक से उलट-पलट पढ़ने की चेष्टा किया करता। दूसरे बंदर तो बस पन्नों को उदरस्थ कर जाते हैं, परंतु वह तो उनके भावों को ही ग्रहण करने का प्रयास करता। वह झाड़ू भी लगा और उनके बिस्तरे भी ठीक कर देता।

एक श्यामा और सुआ दंपति भी नित्य आ जाते। वे अपने संगीत और रूप-प्रदर्शिनी से उन्हें बहुत आनंद देते। और भी बहुत से पक्षी उस पेड़ पर, जो जेल की चार दिवारी से बाहर सटा हुआ था, टें-टें काँव-काँव करते तथा कूजते, चहकते। लेकिन कोयल तो, जब सब चुप हो जाते, निशा की निस्तब्धता में, कभी-कभी कूक जाती, क्योंकि उसका समय अब नहीं था। और पपीहा? ओह वह तो पिय कहाँ, पिय कहाँ की टेर बराबर लगाए रहता। उसकी यह सच्ची लगन उनके विरह को बढ़ाते हुए उनकी मनोनिष्ठा, साहस तथा दृढ़ता को भी बढ़ा दिया करती।

जाड़े की रात में जब कभी बदली हो जाती, पानी बरसने लगता, जोर-जोर से हवा के झकोरे चलने लगते तो उन्हें बड़ा कष्ट होता, शरीर को पोटली की तरह समेट कर रात काटनी पड़ती। तिस पर भी कोठरी की छाजन टूटी-फूटी होने से पानी भी भीतर आता रहता। जेल देने वाले को इतना भी ध्यान नहीं कि मैंने किस बंदी को किस तरह रक्खा है।

घनी अँधेरी, बिजली की चमक-दमक, बादलों की गरज-तरज, पानी और हवा की छहर-झहर—येही सब उनके हृदय में काव्य हो, क्रांति का प्रदर्शन हो, रात काट ले जाते और शेक्सपियर के 'ऐज़ यू लाइक इट' के प्रवासी ड्यूक के ही शब्द उनके हृदय से स्वतः उद्भूत होने लगते—"Blow, blow thou winter wind, thy tooth is not so keen as that of ingratitude. (हेमंतवायु, बहो बहो, तेरा दाँत उतना पैना नहीं जितना अकृतज्ञता का।) ये पंक्तियाँ उन्हें असीम आनंद, असीम संतोष देतीं। ऐसी न जाने कितनी रातें वे काट सकती थीं। वे बार-बार, उनके हृदय में, उनके स्पंदनों में दौड़ा करतीं। तब वे अपने मन की भावनाओं को कहने के लिए किसी को ढूँढ़ने लगते। परन्तु वहाँ था कौन उन तीखी हवाओं, बौछारों, चमक-दमक, गरज और उन नंगी दीवारों तथा कुछ साँपों, बिच्छुओं के सिवा, जो ऋतु ताण्डव से त्राण पाने को उस जेल की ही कोठरी में आ जाते।

दिन को कभी-कभी वे शैलराज के धवल शृंगों को घण्टों देखा करते। ऐसा लगता मानो विश्व का अखिल यश साकार सौम्य रूप में सुस्थिर हो; मानो विश्व का महान प्रतिनिधि स्वर्गदूतों से परामर्श के लिए आमंत्रित किया

गया हो; मानों सहस्त्रों हाइटहालों के दर्प-दमन के लिए किसी महावैभवशाली ने सिर ऊँचा कर लिया हो; मानो कोई महान् कर्मयोगी विश्व की मनोवृत्ति को लिये तुच्छ स्वार्थों से परे परमार्थ के महाकाश में प्रयाण कर गया हो। उस पर के नाना नीहार-विनमज्जित तरु-समूह उसकी महान निर्मल मनोवृत्तियों से सर्वदिशोन्मुख थे। सुदीर्घ सरोवर भी जो योगी के सुआर्द्र हृदय से तरलित रहते हेमंत की कठोरता से अद्रवित हो गये थे।

कभी-कभी आधी रात को बाहर निकलते तो ऐसा लगता मानो हिमानी ने अखण्ड रूप धारण कर लिया है। शशि की शुभ्र किरणें शीतल नगराज के ऊपर ऐसी मुग्ध हो जातीं मानो अपने नीड़-निकेत में समा रही हों। ऐसा भी लगता मानो अशेष युग से इन रश्मियों ने एकत्र हो हो कर अद्रिराज की सृष्टि की हो। प्रातःकाल उपास्मित में अचलराज का धवल कलेवर स्वर्णस्नात हो आनंद का अनुपम सजीव पर्व बन जाता। इन्द्रधनु की सतरंगी आभा तो अलका तथा रत्नाकर आदि का सृजन कर देती। और मनोज्ञ मेघ-मालाएँ, जगमगाते तारे—कौन नहीं उस मंजु मनोहर महामुकुर में अपना पूर्ण रूप देख उस सुषमा पर बलिहारी हो जाता ?

युग बदले, शासन बदले, संसृति बदली, संस्कृति बदली, परंतु अचलराज ! तुम अचल रहे और रहोगे, अनंत युगांतर देखने को ! तुम क्यों बदलोगे ? अक्षर ब्रह्म से अखिल सृष्टि उत्पन्न हो स्थिति और प्रलय को प्राप्त हुआ करती है और वह ज्यों का त्यों रहता है। महा क्रांति के समय महा समाधि से जाग तुम एक निःश्वास लेते हो, भूतल डगमगा उठता है और अंधकार तथा प्राचीन रूढ़ियों का तिरोभाव तथा नव प्रभात का आविर्भाव हो युग परिवर्तन हो जाता है।

कर्मयोगिन ! अचलराज का यह वरदान है तुम्हें कि तुम भी उसी की भाँति अचल रहोगे और नवयुग के प्रवर्तक होगे !

२१

इस बार की बंदियाँ और नजरबंदियाँ बड़ी लंबी थीं। कितने नेता अस्वस्थ हो गये और वही अस्वस्थता उनकी मृत्यु का निकटतम कारण हुई। इस बार की यंत्रणा में सबकी परिस्थिति कुछ न कुछ असाधारण थी, परंतु योगेन्द्र जैसी किसी की नहीं।

बाहर निकल नेताओं ने आन्दोलन की मशीन ढीली-ढाली देखी। जैसे बिगड़ी हुई कार फिट-फिट करके रह जाय, ऐसी ही कुछ शिथिल-सी प्रगति उसकी भी थी। परंतु अब उसमें नूतन स्फूर्ति आने लगी।

अखिल भारतीय संघ की बैठक तथा अन्यान्य सभाओं के समाप्त होने पर चन्द्रावती और योगेन्द्र आज रात को कुछ सावकाश हो सके। अभी दो ही घण्टे रात बीती रही होगी, वे घर के बाहर बैठे कुछ बातें कर रहे थे। एक कार आयी और घर से कर घर से दूर खड़ी हो गयी। उसके वहाँ रुकने से कोई नहीं कह सकता था कि उसमें का कोई व्यक्ति उस घर में जायगा। परंतु कोई वहाँ से वहीं को चला। वह इतने निकट आ गया कि उनकी कुछ बातें भी सुन सकता था—"न भैया का कुछ पता चला, न सविता का। लेकिन सविता तो…। ऐसा मत सोचो योगेन्द्र सविता के विषय में, और अपने भैया को…"

तब तक वह निकट आ गया। उसने हस्तलिपि का एक छोटा सा पुलिंदा उनके सामने रख कहा—"वही हूँ मैं।"

बोली उसकी कुछ मरोड़ी सी लगती थी। वह तुरंत ही मुड़ा और चल दिया। वे देखते रह गये। योगेन्द्र ने कठिनता से पहचाना। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वही वाइसराय का अर्दली था।

इग्यारह बजे रात भोजन और कुछ पढ़ लिख लेने के बाद चन्द्रा ने कहा—"योगेन्द्र! इस समय तुम कविता की मनोवृत्ति में बड़े अच्छे लगे रहे हो, कुछ सुनाओ।"

यो०—हाँ अब तक तो मेरी मनोवृत्ति ऐसी ही रही, है, परंतु अब तो वह संसार की मनोवृत्ति देख रही है ।

च०—वह क्या है ?

यो० – वह मनोवृत्ति है नित नवीनता देखने की, चाहे उसमें कुछ तथ्य तथा उपादेयता हो या नहीं। हमारे कितने राजनैतिक नेता भी इसी वर्ग में हैं। वे कहते हैं—'हम प्राचीनता का अंतिम संस्कार करने जा रहे हैं; हमारा विधान आद्योपांत नया होगा; हमारी संस्कृति बिल्कुल नयी होगी, उसमें प्राचीनता की गंध भी न होगी।'

च०—जिस प्राचीनता से वे झिझकते हैं, डरते हैं, उसकी उत्तमताएँ उनकी नवीनता में किसी रूप में आये बिना रह नहीं सकतीं; क्योंकि चिर सत्य, चिर सौंदर्य्य तो शाश्वत और समरस हैं। वे प्राण तथा आत्मा हैं और हमारी संस्कृतियाँ, हमारे विधान उनके कलेवर हैं जो समय समय पर परिवर्तित तथा नष्ट हुआ करते हैं। परिवर्तनशील तथा नश्वर तो यह संसार है ही। परंतु इसका यह आशय नहीं कि आज के हम कल के सब कुछ को—सुंदर, असुंदर दोनों को—हमारी आज की परिस्थित के साँचे में आ जाने और न आ जानेवाले दोनों को—पूर्णतः विपर्यस्त कर दें।

यो०—मानव प्रवृत्ति ओछी हो अनुदिन अवनति की ओर चली जा रही है। आज वह कूटनीति, कपट, असत्य, अदूरदर्शिता को ही अपना आदर्श मान फूली नहीं समाती। सभी संस्थाएँ, संस्कृतियाँ अतिवाद को पहुँच जाया करती हैं तो उनमें बहुत से ढोंग, झाड़-झंखाड़ आदि आ ही जाया करते हैं! अवश्य ही परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन होते हैं, परंतु अनावश्यक, हानिकर परिवर्तन, केवल परिवर्तन के लिए तो होने न चाहिएँ। हमारी कसौटी तो सत्य, सौंदर्य, कौशल, स्थिरता, सजीवता आदि की मौलिकता और वास्तविकता की होनी चाहिए।

च०—जैसे ये नवीनतावादी सत्य के अंतर्निकुंज में न जा बहार ही बाहर दौड़ा करते हैं, वैसे ही अपरिवर्तन वादी भी—एक चाहता है मैं अपना नया घर बनाऊँ, चाहे वह पुराने से भी जर्जर हो और आज ही गिर जाय। दूसरा चाहता है मैं अपने पुराने ही घर में रहूँगा, चाहे वह आज ही भरभरा कर बैठ जाय। यहाँ की कोई भी व्यवस्था पूर्ण नहीं होती। परिपूर्णता दूसरे ही लोक की वस्तु

होगी । अच्छी से अच्छी व्यवस्था बनती है; परंतु, कुछ समय के पश्चात्, वह जन-समूह को अपने में सुस्थिर रखने में अक्षम हो जाती है, क्योंकि वह या तो अति क्षीण या अति पीन हो जाता है ।

यो०—औद्योगिक, समाजिक, राजनैतिक आदि सभी व्यवस्थाएँ परिस्थिति के अनुकूल बदला करती हैं । परंतु प्रेम, दया, क्षमा, सहानुभूति, सत्य, साहस, कर्मठता आदि ही सभी देश-काल में, जब तक मानव अमानव, असुर न हो जाय, उसकी किसी भी व्यवस्था के माप-दण्ड रहेंगे और सर्वदा रहे हैं ।

हाँ, भाभी जो तुम कविता की बात कह रही थीं; यही व्यवस्था वहाँ भी है । भक्तिकाल की काव्यधारा देखकर रीतिकाल का काव्य-कुण्ड देखो—जिसमें अन्तः सौन्दर्य तथा जीवन अनुभूति—जो काव्य का प्राण है—है ही नहीं । वह सुषमा दीर्घ काल के पश्चात् फिर छायावाद के रूप में राहुमुक्त हुई मानों । फिर देखो न ये प्रगतिवादी छायावाद तथा स्तुत्य प्रगतिवाद के गगन-भू को अपनी चिमनी के धूँएँ से और काव्य ग्रंथों को अखबारों से ढक देना चाहते हैं ।

तब तक गिरजाघर के घंटे ने तीन बजाना शुरू कर दिया । साथ ही स्टेशन पर आती डाक गाड़ी की भी हरहराहट सुन पड़ी । साथ ही एक हवाई जहाज भी घिरघि राने लगा । पर कहाँ वह झमझमाहट, झकझकाहट, कहाँ यह घिरघिराहट ! वह तो मानो जल, थल, नभ सबको चीरती फारती, लाँघती विश्व-विजय की घोषणा करती चली आती है । ऐसी ओजस्विता अन्यत्र कहाँ ?

योगेन्द्र ने कहा—"सुनो भाभी, यह झकझकाहट रजनी की निस्तब्धता में महाकाव्य के वीररस का यह महागान सुनो !

२२

अन्य कार्यों के रहते हुए भी नरेन्द्र-मंडल का निमंत्रण उन्हें स्वीकार ही करना पड़ा। नरेन्द्रों का अपनी एक सभा का आयोजन था, जिसमें योगेन्द्र को सभापति का आशन ग्रहण करना था। सभा स्थान उदय पुर था। स्वाधीनता के लिए तत्कालीन शासन के विरुद्ध झगड़ा उठाने को हल्दीघाटी युद्ध की मंत्रणा के निमित्त अरावली की चोटी पर जहाँ महाराणा प्रताप का दरबार लगा था, सभा के लिए उपयुक्त पंडाल तैयार किया गया था। बड़ी अच्छी तैयारी हुई थी, लेकिन दूसरे ही ढंग की—हरी-हरी घासों के मखमली बिछौने, स्वच्छ स्फटिक शिलाओं के आसन, वृक्षों के सामियाने, वन्य सुमनों के तोरण तथा निर्झरों के मोहक गान थे।

यथा समय चन्द्रावती, योगेन्द्र और जितेन्द्र सभास्थल पर पहुँचे। स्वागत के पश्चात् कार्यवाही प्रारंभ हुई। योगेन्द्र को सभापति का आसन ग्रहण करने का प्रस्ताव हुआ। परंतु उन्होंने वहाँ के महाराणा को ही उसके लिए आग्रह किया। अंत में देवी चन्द्रावती को ही वह स्थान स्वीकार करना पड़ा।

जिस नरेन्द्र-वर्ग को कांग्रेस तथा संघ के नाम से भी घृणा थी, जो उन्हें अपने स्वत्वों का घोर विरोधी समझता था, वह उनकी उदारता, उच्चाकांक्षा तथा सत्य मनोनिष्ठा से की हुई देश सेवाएँ उनके सहे हुए कष्ट तथा स्वाधीनता की वेदी पर दी हुई प्राणाहुतियाँ स्मरण कर और का और हो गया। उन अनवरत श्रम-खिन्न आकृतियों के पूतोपनिषद् में आज उसने जीवन का सत्य स्वरूप देखा और पढ़ा।

बहुत से लोगों के संभाषण हुए। नरेन्द्र-मंडल की ओर से कहा गया कि वह उस संस्था से, जिसने सर्वहित के लिए ऐसे महत्कार्य किये, अपने स्वत्व को पृथक् नहीं रखना चाहता; कि देश सेवा तथा सर्वहित के विरुद्ध जो आरोप उस पर लगाये गये थे वे विशेषतः परिस्थिति विशेष में ही सत्य कहे जा सकते हैं, और उस अवस्था में उन्हें आरोप कहना भी समीचीन न होगा।

× × × × ×

योगेन्द्र के संभाषण का सारांश दे देना आवश्यक है।

आज जिस मंच पर, जिस भद्रमण्डली, जिन ऐश्वर्य तथा कीर्तिशाली महापुरुषों के मध्य मुझे बोलने का सौभाग्य मिला है, वैसा न कभी मिला था और न यहाँ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं मिलेगा ही। इन्हीं अरावली की पहाड़ियों पर, इन्हीं जंगलों में स्वतंत्रता के अमर पुजारी ने, अनुरागी वैरागी ने स्वतंत्रता का अलख जगाया था, राष्ट्रीयता का झंडा फहराया था, देश के प्रसुप्त कानों में स्वतंत्रता की शंखध्वनि की थी, शत्रु-सेना में ताण्डव नृत्य किया था; इतिहास के पन्नों पर सोने के अक्षर ढाले थे; आनेवाली अशेष शताब्दियों के लिए स्वाधीनता का राजमार्ग निर्मित किया था।

शताब्दियाँ आयीं और गयीं; परंतु हल्दीघाटी तो बस उसी समय, उसी आजादी के दीवाने से बन पायी। कितने राज्यविधान बने और बिगड़े; परंतु हल्दीघाटी का विधान ज्यों का त्यों है और रहेगा। हम वीरों की सन्तान, हम ऋषियों की सन्तान हल्दीघाटी के, अमरावली के जंगलों के चिर-ऋणी हैं। हम उससे मुक्त होने का प्रयास करते हुये तभी समझे जायँगे जब उस महा शंखध्वनि से प्रस्फुरित हो केसरिया की त्रासहारिणी, प्राणसंचारिणी छाया में प्रयाण करते हुए न्याय पर बलि चढ़ जाने तथा चढ़ा देने—दोनों में समान विजय समझेंगे।

मेवाड़ का ही इतिहास इस देश की शताब्दियों की स्वतंत्रता का इतिहास है। यह चिर स्वाधीन देश राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की मुक्तिदायिनी शिवपुरी है। आज भी ये स्तंभ, ये सागर, ये दुर्ग अपने विजेताओं के विजय-विक्रम, सुचारु शासन और कलाप्रियता का स्तवन गान करते हैं। आज भी ये झरने किसी के अजस्र स्वातंत्र्य-प्रेम की गौरव-गाथा गाते हैं। आज भी ये पत्ते, ये घासें किसी वनवासी की रोटी में पिस जाने को लहलहा रही हैं। आज भी ये वृक्ष किसी प्रवासी के असहाय भूखे-प्यासे बच्चों को अपनी गोदी में लेने को हुलस रहे हैं। आज भी हवा के मस्त झोंके हमें गोरा-बादल के अदम्य समरोत्साह का संदेश सुना रहे हैं। आज भी सतियों की समाधियों से स्वतंत्रता और समर्पण की साँसें निकल रही हैं।

जहाँ महारानी पद्मिनी, कर्मदेवी, हाड़ीरानी, चारुमती सरीखी सतियों की

समाधियाँ हैं, उस भूमि की प्रशंसा कौन कर सकता है ? इस तपोभूमि के दर्शन की लालसा मुझे बहुत दिनों से थी। वह आप लोगों की कृपा से पूरी हो गयी। सच कहता हूँ आज मैं वह हूँ जो होना चाहता था। आज मेरे हृदय में असीम आनंद और उल्लास है। आज मेरे प्रत्येक स्पंदन में उत्साह के सागर उमड़ रहे हैं। आज मेरे रोम-रोम में अमर जीवन की सजीवता जाग उठी है। जहाँ से उस अमर पुजारी ने हल्दीघाटी के संग्राम का—राष्ट्रीयता का संदेश सुनाया था, आज मैं उसी समाधि से बोल रहा हूँ—आज मुझमें वही राणा बोल रहा है !

जितनी व्यवस्थाएँ, जितने विधान बनते हैं, बने तथा बनेंगे, उनके मापदण्ड प्रेम, क्षमा, दया, सेवा, सत्य, सृजन—ये ही रहे हैं और रहेंगे, जब तक मानव दानव न हो जाय। यदि इस समय ये विभूतियाँ स्वल्प परिमाण में हैं तो क्या दानवता का ताण्डव नृत्य नहीं हो रहा है ? ओह ! इसे मैंने कितनी बार नहीं दुहराया ?

असंख्य प्राणी जिनके आकार-प्रकार मानव के-से ही हैं, जिन्हें हम लोगों सी ही भूख-प्यास लगती है, जिनकी चेष्टाएँ हमी लोगों की सी हैं—आज भूखों मर रहे हैं। उन पर धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक सभी अत्याचार हो रहे हैं। उनकी सूखी हड्डियों, धँसी आँखों, मुरझाये हुये चेहरों और उनसे भी अधिक मुरझाये हुये मनों को देखिए—विकृत मानव आकृति को देखिए। क्या उन्हें देखना ही न चाहिए ? क्या उन्हें देख उमड़ती हुई करुणा का मुख कठोरता की भीमकाय शिला से दबा देना चाहिए ? हम अच्छे-अच्छे भोजन-वस्त्र तथा भोग-विलास में मग्न रहें और वे क्षुधा-पीड़ित, नग्न और दुराशा, दुर्दैन्य में मग्न रहें ! क्या यही होने देना चाहिए ? वे हम होते, हम वे होते, तो क्या चाहते ?

हम राजतंत्र द्वारा ही शासन करते तथा शासित होते आये हैं। हमारे राजतंत्र से वे शासन, वे सुव्यवस्थाएँ प्रसूत हुई हैं जो संभवतः भविष्य के गर्भ से कभी न हों, जो आदर्श रामराज की कहावत बन गयी है। भौतिकता और आध्यात्मिकता का, भुक्ति और मुक्ति का, अनुराग और त्याग का वैसा समन्वय क्या मानव जाति इस धराधाम पर फिर देखेगी ? परंतु आज के साम्राज्यवाद ने उस राजतंत्र

के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि जो व्यवस्था अच्छे राजतंत्र से संभव है वह प्रजातंत्र से हो नहीं सकती; और जितना निरापद वह हो सकता है, यह कदापि नहीं। परंतु इस समय इस तंत्र के चाहनेवाले भावों तथा उमंगों की बाढ़ आ गयी है।

आज हममें वह नैतिक एवं चारित्रिक पुरुषार्थ नहीं रह गया। आज हम ऐसे अधोमुखी हो गये हैं कि आकाश की ओर आँखें भी नहीं उठा सकते। आज हम जो आकाश से विस्तीर्ण थे, अणु से संकीर्ण हो गये हैं। आज हम—हमी नहीं, प्रायः सारा विश्व ही—उस साम्राज्यवाद से शासित हो रहा है, जो पोषक नहीं शोषक, भर्ता नहीं अपहर्ता, रक्षक नहीं भक्षक है। आज यह साम्राज्यवाद ऐसे दानववाद, एकतन्त्रवाद का प्रतीक हो गया है कि जनता इसके नाम से भी घृणा करने लगी और इसके विरुद्ध जनतंत्र–प्रजातंत्र का महा अस्त्र ले खड़ी हो गयी है। हो क्यों न? साम्राज्यवाद ने तो अपनी राजवत्सलता के लोभातिरेक से प्रजावत्सलता को पैरों तले कुचल डाला। इसने सुख-समृद्धि तथा शक्ति का ऐसा अनुचित वितरण किया है कि उधर तो राशि-राशि वैभव भोग-विलास से ऊब अलस अँगड़ाइयाँ ले रहा है और इधर अपरिमेय दुर्दैन्य आहें भर-भर कराह रहा है!

हम जो ऐसी अधोगति और दुर्गति को प्राप्त हो गये हैं, इसका प्रमुख कारण यही है कि हम विदेशी शासन से शासित हैं। वह हमें उसी ममता से बर्तती आ रही है जैसे कोई दुःशीला अपनी सौत के लड़के को। हम पनपने नहीं दिये जाते। हमें उन्मेष नहीं होने दिया जाता। हमें जानने नहीं दिया जाता कि हम कौन हैं। हमारे सामने प्रायः सभी सुंदर सुंदर विधान और उन्नायक आयोजन रक्खे गये हैं। परंतु वे वस्तुतः बर्ते जाने के लिए नहीं, केवल खाना पूरी करने के लिए हैं। परंतु इसमें बिंदुमात्र भी संशय नहीं कि यदि हमारे ब्रिटिश शासक हमें अपना समझ कर शासन करते तो वे विश्व में अपनी समता न रखते। शासन की ऐसी क्षमता, ऐसी योग्यता इस समय संसार की किसी भी जाति में नहीं, यह निर्विवाद है। परंतु दूषित स्वार्थ ने उसे निरर्थक ही नहीं, विपरीत प्रभाववाला भी कर दिया।

क्या आप अपनी पराधीन स्वाधीनता से संतुष्ट हैं? क्या आप अशेष शता-

ब्दियों, नहीं, अशेष युगों के स्वाधीन राजवंशजों को मैं स्वतंत्र होना बताऊँ ? स्वतंत्रता का जो अमर पुजारी अपने देश-बंधुओं तथा बच्चों को राजमहलों में सुलाने के लिए जंगलों में सोया; उन्हें घेवर-पूआ खिलाने के लिए घास की रोटियाँ खाईं; देश के लालों की लाली रखने के लिए अपने लालों की बलि चढ़ाई—उसके वीर वंशजों से मैं कहूँ कि अपने भाइयों को उठाइए, उन्हें भूखों न मरने दीजिए ! मैं उनसे कहूँ कि आप जीवन के सच्चे ऐश्वर्य, सच्चे राजत्व को देखिए, केवल जिनका त्याग, सेवा एवं शौर्य्य हमारा पथ-प्रदीप, पथ-प्रदर्शक तथा जीवन का ओज है और रहेगा ?

हमें अपने बंधन से कभी निराश न होना चाहिए। साध्य भी साधन का ही अंश है। यह संभव नहीं कि पानी में पत्थर फेंका जाय और लहर न उठे। फिर भी फल की आकांक्षा से हमें न बँधना चाहिए, क्योंकि उससे हमारे कर्म की महत्ता मर्यादित हो जाती है। और इसे निर्विवाद समझ लेना चाहिए कि इस संसार को असफलता के रूप में जो अमिट, अमूल्य विरासत मिली है, वह सफलता के रूप में नहीं तथा दुःख से जो आश्वासन, उत्कर्ष मिले हैं अथवा मिलते हैं वे सुख से नहीं।

इतना कह वे मौन हो गये। लोग चकित हो उनकी ओर देखने लगे। कुछ देर में जैसे वे जगकर कहने लगे—मैं एक स्वतंत्र देश का सिनेमा देख रहा था—महाराज इक्ष्वाकु से लेकर अपने स्वतंत्र शासकों तक। प्रतिचित्र कहता है—"अशेष शताब्दियों के स्वतंत्र देश के निवासियो ! जो तुम अपनी छत्रछाया में अखिल विश्व को विश्राम देते थे वह आज अपने ही सिंहासन के नीचे दबे कुचक्रियों से कुचले जा रहे हो ! उठो, देखो तुम कौन हो। अपना तेज सँभालो ! वीरो उठो !"

अखिल नरेन्द्र-मण्डल मुग्ध हो गया। उसकी आँखें जैसे घोर निद्रा से खुल गयीं। आज उन्होंने अपने सच्चे स्वरूप को देखा। आज वे किसी नेता का भाषण नहीं, अपितु अपने यशस्वी पूर्वजों का संदेश किसी स्वर्गदूत के मुख से सुन रहे थे।

नेतागण कुछ दिनों तक चित्तौर के खण्डहरों, पद्मिनी आदि सतियों की समाधियों तथा अन्य स्थानों को देखते रहे। चलते समय नरेन्द्र-मण्डल से

उन्हें साग्रह लाखों रूपयों की भेंट तथा उनके साथ पूर्ण सहयोग की प्रतिज्ञा मिली।

अब वे उदयपुर की घाटी में न थे; परंतु जहाँ-जहाँ वे थे वहाँ-वहाँ उदयपुर की घाटी साथ थी। शायद ही कोई ऐसा हो जिसने उदयपुर की घाटी देखी हो और वह उसके हृदय की घाटी न हो गयी हो।

२३

रात के समय योगेन्द्र के मकान के पास आ कोई रमणी ठमक गयी, मानो वह अनजान में वहाँ आ गयी हो। यहाँ तक उसने जो तीन मील की दूरी तय की है अभी वह सचमुच अनजान में हुई है। न जाने कितनी समस्याएँ उसके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थीं। उसी धुन में वह चली आ रही थी। पैर ही अपना मार्ग देखते आ रहे थे, आँखें तो अन्तर्मुखी हो गयी थीं। वह आँखें गड़ा मकान और उसके आस-पास की भूमि देखने लगी। वह चौंक पड़ी और फिर विचित्र अनुरक्त स्मृतियों से आक्रान्त होने लगी। वह स्थगित और आर्द्र हो गयी। उसकी साँसें भारी हो गयीं और शरीर भी। हृदय की धड़कन बढ़ गयी। प्रस्तुत उद्वेग में उसने अपने आत्म-संयम को ढीला होते देखा, बर्फ की तरह पिघल जाते देखा। एक दीर्घ निःश्वास निकली। प्रेम कहता, घर में चलो, निष्ठा कहती, अभी नहीं। निष्ठा बिखरी जाती थी, प्रेम घना होता जाता था।

'चलने में क्या हानि? अपनी स्थिति की उन्हें सूचना तो दे दो।'

'चलने का समय, मिलने का दिन अभी दूर है। पत्र से सूचना दे दूँगी।'

'एक क्षण दरस-परस तो कर लो, मिल तो लो।'

'मिल लूँ केवल विदा होने के लिए। आह!'

नहीं नहीं, मिलने का समय भगवान देगा तो...यों प्रकट कह वह अपने मार्ग पर चलने लगी; परंतु चल न सकी, पैरों में जैसे बेड़ियाँ पड़ गयीं। योगेन्द्र और चन्द्रा के कानों में ऊपर के शब्द पड़ गये। वे सूत कात रहे थे। दोनों

कुछ चौंके, परंतु चन्द्रा अधिक; क्योंकि उसके श्रवण शब्दों को कुछ अधिक ग्रहण कर पाये थे। वह सचकित विचार-विलीन मुद्रा में उठ खड़ी हुईं। योगेन्द्र ने उनकी द्विधापूर्ण मुद्रा देख पूछा—"क्या है भाभी? कहीं जा रही हो? यह द्विधा...?"

कुछ नहीं अभी आयी—यों कहती हुई वे बाहर चली गयीं। देखा थोड़ी ही दूर पर कोई ठमकता हुआ-सा, बोझिल-सा पीछे मुड़ मुड़कर देखता हुआ अपने को घसीटता हुआ-सा चला जा रहा था। चन्द्रा ने कहा—"कौन जा रहा है, रुक जाओ?" इस स्वर ने पथिक को खींच लिया। वह हकबक, शिथिल, विह्वल और गड़ी-सी रह गयी; परंतु उसे लग रहा था कि उसी ओर खिंची जा रही थी। चन्द्रा आशा-निराशा, निश्चय-अनिश्चय के बीचवाली द्विधा में जल्दी-जल्दी उसके पास पहुँचने लगी। अभी वह न जान सकीं कि वह स्त्री थी या पुरुप। समीप जा ध्यान से उसकी ओर देखने लगीं। वह सजल नेत्रों से चन्द्रा की ओर झुकने लगी। उन्होंने असीम स्नेहोल्लास और आश्चर्य से सविता! सविता! कहते हुये उसे अपने भुज-पाश में बाँध लिया।

सविता! सविता! सुन योगेन्द्र का हृदय सहसा आन्दोलित हो उठा, जैसे अकस्मात् किसी बड़ी वस्तु के गिरने से सरोवर। वे खड़े हो गये। सोचते रहे क्या स्वप्न की बातें तो नहीं हैं। द्वार पर जाते-जाते किसी के साथ चन्द्रा को आते देखा। उस किसी को—स्वप्न की बातों को—सविता के ही रूप में देखा! 'क्या यह सचमुच सविता है?' दोनों लिपट गये। वर्षों की वेदना, मूक स्मृतियाँ आँसुओं के रूप में बाहर आने लगीं। तीनों गीले हृदय बैठ गये। पर अब भी विश्वास नहीं हो रहा था कि यह सविता ही है। सविता तो स्वर्ग जा चुकी थी।

योगेन्द्र ने कहा—"सविता, क्या सचमुच तुम सविता ही हो? वह समाचार झूठा था, इसका पता न चला। अब भी मानो मैं स्वप्न ही देख रहा हूँ? कह दो तुम तुम्हीं हो।"

सविता ने कुछ गीली मुसकान में कहा—"कुछ ऐसा ही है। अभी तो वही सविता हूँ जो थी, वह नहीं जो होना चाहिए।"

वे आँखें एक दूसरे को देख देख प्रेम और उल्लास, हर्ष और जीत की हार में विभोर और विमुग्ध हुई जा रही थीं। शालीनता तथा शिष्टता के झीने

आवरण में वह अभिनय बड़ा ही अनूठा लग रहा था। किसी भी नाटक के दर्शक-समूह की समस्त उत्सुकता, उल्लास तथा तन्मयता इस अभिनय के एक ही दर्शक की इन भावनाओं के बराबर हो सकती हैं ?

यौवन के गत वर्षों ने जो अभिनय उन आकृतियों पर किये थे, वे भला उसकी उर्मिल रँगरलियों में कहाँ प्रवाहित थे, वे तो यहाँ पूत निष्ठा, संयम तथा सघन प्रेम की सुस्थिर स्मृतियों के रूप में समाविष्ट थे। उत्सुक और स्वप्न देखती हुयी-सी चन्द्रा ने प्रस्तुत मौन भंग करते हुये कहा—"मेरी देवरानी !"

सविता मुस्कुरा उठी। उसके हृदय-निकुंज में जैसे किसी विस्मृत वसंत का शुभागमन हो गया हो। सविता ने कहा—"बहन ! मेरा नाम ले पुकारो। इस शब्द में इतनी मिठास है जिसे अपनी कड़वाहट अभी सँभाल नहीं पाती है।"

चन्द्रा ने कहा—"वह कटुता मैं दूर किये देती हूँ। अच्छा, यह तो बता दो पहले कि दो एक पत्र लिखकर पत्र भी लिखना छोड़ दिया क्यों ? तुम्हें धरना में सविता देवी वाला समाचार तो मालूम रहा होगा ?"

"लिखने में भूल न की, लिखने ही नहीं पायी। अपनी कहानी में इसका स्पष्टीकरण है। उस समय कोई समाचार पत्र मैं पढ़ तथा सुन न पाती थी।"

चन्द्रा—तो अब कहो न अपनी कहानी रात-रात भर, दिन-दिन भर।

योगेन्द्र—सविता, हमने तो समझा तुमने असमय में ही साथ छोड़ दिया। कहाँ रहीं, क्या क्या किया ? लगता है कि तुम हम लोगों से अधिक ठोस काम कर रही थीं।

तीनों भोजन कर फिर बैठ गये और बातें होने लगीं। योगेन्द्र ने 'हम और हमारा शासन' उसे दिखलाया और उसकी अयास उपलब्धि की व्यवस्था कही और कुछ अंशों को पढ़कर सुनाया भी। सविता ने दाँतों तले उँगली दबा ली। चन्द्रा ने कहा—"बस आज इतना ही। अब से यह रात सुहाग रात होगी।"

सुहाग रात ! देश की गहन यामिनी में भटकनेवाले तथा जेल की ही कोठरी में जिनके न जानें कितने वसंत बीत गये, सुहाग रात की बात सुन सिहर उठे। लज्जा तो थी ही, इस सुख की कल्पना का भी बोझ उन्हें दूभर-सा लगा। तपस्वियों को तपोभ्रष्ट करने के लिये मानो उनके सामने परियों का नाच होने

लगा हो। सविता ने जैसे नवोल्लसित, विकसित मुद्रा से कहा—"बहन! देश की स्वतंत्रता की दिनवाली रात ही हमारी सुहाग रात होगी, यदि किसी सुहाग रात का अवसर भगवान ने दिया तो।"

ये ही शब्द योगेन्द्र के हृदय में भी साथ ही साथ स्वरित हो रहे थे। वे चमत्कृत हो बोले—"सविता, तुम धन्य हो मेरे हृदय की रानी, हृदयेश्वरी! जीवन की मनन-माला में तुम्हारा यह वाक्य मेरुमनि होगा।"

फिर सविता ने कहा—"मुझे अविलम्ब अपने स्थान पर पहुँच जाना चाहिए। जो प्रतिज्ञा हमारी अपनी कार्यकारिणी समिति से हुई है उसके अनुसार मैं उसका विवरण नहीं बता सकती। यथा समय वहाँ पहुँचना ही होगा, नहीं तो बड़े संकट का सामना करना पड़ेगा।"

चन्द्रा का चेहरा उतर गया। पर तत्क्षण ही एक तेज तमतमाहट-सी उस पर दौड़ गयी। वे बोल उठीं—"तुम लोग कैसी बातें कर रहे हो? तुम लोगों की प्रतिज्ञा हमारी अंध प्राचीन रूढ़ियों से भी जड़ है। जो सतत प्राणिमात्र की सेवा करना चाहते हैं, वे भला यह कब न चाहेंगे कि वह सेवा हमारे बाद भी होती रहे। तुम्हारी प्रतिज्ञाएँ इस परम्परा को तोड़ कब चिर कल्याण चाहनेवाली हो सकती हैं? फिर हमें तो ऐसे अवसर से चूकना ही न चाहिये—एक क्षण भी जिसका ठिकाना नहीं—जेल जिसका घर हो और गोलियों की बौछारें और तोप के गोले जिसकी फुलझड़ियाँ हों। देश तथा प्राणिमात्र को तुम्हारी संतान—तुम्हारे उत्तराधिकारियों की आवश्यकता है। उनका रोम-रोम भगवान् से प्रार्थना कर रहा है।"

स०—लेकिन भाभी, गुलाम संतान से कौन…।

च०—गुलाम संतान ही तो सरकार के छक्के छुड़ा रही है। और ऐसे कर्मयोगी की संतान गुलाम होगी तो, पता नहीं, वीर और महात्मा कहाँ होंगे?

स०—बहन! जब अपना ही जीवन अव्यवस्थित है, तो इतनी बड़ी थाती कैसे सँभाली जायगी? मैं जिस परिस्थिति में हूँ उसे तुम नहीं समझती हो।"

च०—"सब समझ रही हूँ बहुरानी, इस भूल से मेरा तथा असंख्यों का जीवन नष्ट न करो। तुम्हारी वह पवित्र थाती मैं सँभालूँगी, देश का सौभाग्य सँभालेगा, जो संसार को सँभालता है वह सँभालेगा। जिस शुभ मुहुर्त की मैं

वर्षों से हुलस-हुलस, उमँग-उमँग, सिहर-सिहर प्रतीक्षा करती आती हूँ, वह आकर भी व्यर्थ चला जाय ! ओह ! आज हमारे घर में सुख की कोई सामग्रियाँ नहीं—पर्यंक, सोफे आदि कुछ भी नहीं; परन्तु तपस्वियों की सुहागरात के लिये उनके अभाव का अभाव ही क्या ? गीता की पुस्तक, फूलों की माला, यह चाँदनी, यह खादी और मेरी ललित लालसा—ये क्या कम हैं ? मैं सेज लगाती हूँ। आज मेरे जीवन की एक बड़ी अभिलाषा पूरी हो रही है और दूसरी—देश की स्वतन्त्रता—वह भी अब दूर नहीं।

प्रत्येक रात सुहाग रात हुआ करती है; परन्तु वह धन्य तभी हुआ करती है जब दो हृदय विश्व के स्पंदन ले मिलते हैं। लतामण्डप सदृश एक गृह में, स्वच्छ, सरल शय्या पर शौर्य और सुषमा, त्याग और अनुराग, तप और संयम, व्रत और शील का संयोग हुआ। विश्व कल्याण तथा अगाध प्रेम में विमुग्ध हो दो हाथ आगे बढ़े और उनके सम्मान में दो गोरी-गोरी, गोली-गोली बाहों ने अपने प्रेमी का आलिंगन कर लिया; प्रतनित प्रत्यंचाकार महराब के नीचे कानों तक फैली हुई दो आँखें अपनी आराधक आँखों में समा गयीं; दो पाटल अधर दल दो मधुप अधरों में अपने मरंदोच्छ्वास ढुलकाने को झुक गये—दो जीवन अपना सच्चा प्रतीक प्रादुर्भूत करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से तन, मन और इन्द्रिय से एक हो गये।

× × × ×

प्रातःकाल ही चलने की तैयारी हो गयी। सविता अपना हैंडबेग ले कार में बैठने ही जा रही थी कि उसे सिहरन-सी होने लगी और अंगों के जोड़ भी फूटने लगे। उसने रुककर उनसे अपनी तबियत का हाल कहा। उसी समय योगेन्द्र के नाम वारंट आ गया। उनकी यह बंदी आगे होने वाले अधिवेशन तथा आन्दोलन की पेशबंदी में थी, शायद। सविता की पूरी बात भी न सुन पाये थे कि एक काली जालीवाली लारी में बन्द हो जेल की ओर रवाना हो जाना पड़ा। वह लारी थी अथवा जेल की काली कोठरी ही उठकर उन्हें लाने चली आयी थी।

नव दंपति इस प्रकार वियुक्त हो गया। सुहागरात के प्रात की चितवन लज्जा में डूब डूब आर्द्र उषा-सी जिस आनंद की सुधा-वृष्टि प्रेमी हृदयों में किया

करती है उसका सुख उस दंपति ने क्या जाना ? परंतु क्या इन सुखों से वे हाथ नहीं धो चुके थे ?

सविता पर भीषण ज्वार का आक्रमण हुआ और योगेन्द्र जेल में पहुँचे। बार-बार जेल जाने से उनकी कोठरी से अब कोई झिझक और हिचक न होती। परंतु ऐसे अवसरों पर जेल की विदाइयाँ किस हृदय को न मरोड़ देती होंगी ? जरा सोचिए।

सविता दूर होते हुए भी उनके साथ थी, और थी एक अनोखे वेश में—सजल आँखें नीचे किये अपनी तबियत का हाल भरभराते शब्दों में उनसे कहती हुई। आह ! यदि हम एक दूसरे का दुख सचमुच बाँट पाते !

वासंती संध्या थी तो योगेन्द्र को क्या ? वहाँ न वह मन्द मलयवाह, न वह नवजीवन का उल्लास, न वह लाली—उनकी छाया भी नहीं—केवल पराग-रंजित गगन-पटल का एक छोटा-सा अंश और सुरभि की मूक, मंथर तथा क्षीण फ़ुरफ़ुराहट किसी विस्मृत सी स्मृति-सी आ रही थी। वह संध्या उनसे यही कह रही थी—"तुम्हारे जीवन के वसंत तुम्हें धोखा दे दे चले जा रहे हैं। यह भी कोई जीवन है—दो एक महीने, दो एक दिन बाहर तो दो एक वर्ष, दो एक महीने जेल में।" परंतु वह कर्मयोगी उससे कहता—"जाओ हँसते-हँसते चले जाओ। मेरा अपना वसंत कौन जहाँ अखिल विश्व न हँस दे, भीतर और बाहर दोनों न प्रकाशित हो जायँ ! मेरे सौ-सौ पतझारों में भी एक बार विश्व का वसंत हँस देता !"

बाबा अजीत सिंह पास ही खड़े थे, चुपचाप। परंतु योगेन्द्र उन्हें अभी न देख सके थे। देखते क्या, अभी तो उन्हें यह भी ज्ञात नहीं था कि वे इसी जेल में हैं। कुछ देर बाद बाबा ने योगेंद्र के शीश पर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटा'

वाह ! क्या उस स्पर्श में वांछित वसंत का मलय स्पर्श नहीं हो गया ? क्या उस वाणी में जीवन का गान मुखरित नहीं हो गया !

वे बाबा बाबा कह उनसे लिपट गये।

बा०—चंद्रा कैसे हैं और सविता का कुछ समाचार मिला ?

यो०—भाभी अच्छी हैं लेकिन सविता का समाचार क्यों और कैसे पूछा बाबा ? तुम कैसे त्रिकालदर्शी हो बाबा !

सविता की कहानी सुन बाबा को मनोवांच्छित आनंद हुआ। परंतु उसके अस्वस्थ होने की आशंका ने कुछ कष्ट भी दिया। फिर और और बातें होती रहीं—पीछे की सब बातें जो मिलने के पहले की थीं तथा पत्र से न सूचित की जा सकी थीं।

बाबा ने देखा कि जीवन के कितने वसंत उस नवयुवक कर्मयोगी के अंग-भस्म बन गये थे। योगेंद्र ने देखा कि उस सौम्य आकृति पर नव अतीत अपने अभिनय के क्रूर चिह्न छोड़ गया था। परंतु उस जीवन की सौम्यता, दृढ़ता एवं गंभीरता और भी संवर्द्धित हो गयी थी, जो किसी भी पथिक को अपने सम्पर्क मात्र से पथ संकेत कर और विश्राम दे सकती थी।

बाबा और योगेंद्र बहुत रात तक जागते रहे। वे उन्हें 'हम और हमारा शासन' तथा इधर के कार्यों का विवरण सुनाते रहे। बाबा सुनते रहे—कभी मौन रह जाते, कभी कुछ कह देते। ऐसा लगता उनकी सौम्य मुद्रा एवं दृढ़ आस्था में सभी समस्याओं का हल था।

देर बाद योगेंद्र ने कहा—"बाबा कोई ऐसी बात नहीं है जो मुझे आगे बढ़ने से क्षण भर भी रोक सके अर्थात् मेरी मनोनिष्ठाओं को ढीली कर सके; परंतु जब मैं विश्व के इतिहास में महापुरुषों की जीवनी देखता हूँ तो सुख के स्थान पर दुख और दुख के स्थान पर सुख, सृजन के स्थान पर संहार और संहार के स्थान पर सृजन—यही अव्यवस्था देखता हूँ। इससे मेरी आस्तिक अवस्था कम होती जाती है। दुख तो किसी का साध्य होता नहीं, वह तो सुख ही होता है। हम सहर्ष दुख सहते चलें, परंतु इससे वह साधन से साध्य तो होगा नहीं। दुख सहते हैं लोग सुख के ही लिए—तुच्छ, अनुदार अपने लिए और महान, उदार औरों के लिए। कोई अदृश्य, असीम शक्ति भले हो, या है। परंतु वह उदार और न्यायप्रिय भी है—यह कैसे ? क्या सब कुछ यों ही सहते जाना ही जीवन का चरम लक्ष्य है ? क्या हम सर्वनियंता, सर्वनियामक की दयालुता और न्याय परायणता परम्परागत मान्यताओं से ही मान लेने को विवश हैं ?"

बाबा मुस्कुरा उठे। ओह वह मुस्कुराहट। उनकी श्वेत दाढ़ी, श्वेत आकृति, श्वेत मुद्रा पर कैसी लाली दौड़ गयी—श्वेत सरसिज-वन-वैभव पर ऊषा की

किरणें छहर गयीं। उसने वातावरण को, और, उससे भी अधिक, योगेंद्र के हृदय को जगमगा दिया। बाबा बोले भी—"नहीं;"—मानो आकाशवाणी हो गयी, मानो पट फट गयी, मानो दुर्गम गहन वन में एक सीधी पगडंडी मिल गयी, मानो घोर अँधेरी में चाँदनी छिटक गयी।

एक दूसरे दिन का बाबा-योगेन्द्र-संवाद यों है—

यो०—कतिपय विचारशील सत्पुरुषों का कहना है कि सार्वजनिक रहन-सहन का स्टैंडर्ड (माप) एक साधारण मनुष्य तथा तपस्वी का-सा होना चाहिए अर्थात् ऐश्वर्यशालियों को निम्न कंगाल श्रेणी के लोगों में चला आना चाहिए। बहुमत का कहना है कि नहीं, उन कंगालों को भी यथासंभव उनकी कक्षा तक उठा देना चाहिए। वे विरोध करते हैं कि थोड़े-से पूँजीपतियों तथा ऐश्वर्यशालियों ने तो संसार में उथल-पुथल मचा दी—इतना अत्याचार कर डाला, अव्यवस्था पैदा कर दी—, तो जब संसार ही ऐश्वर्यशाली हो जायगा तो क्या होगा ?

बाबा—बेटा, दोनों ही शायद तह तक नहीं पहुँचे। एक साधन को ही ले रहा है, दूसरा उपभोगों से संभवतः होनेवाले दुराचारों तथा अनाचारों के निराकरण की कोई व्यवस्था नहीं बतलाता। कोई साधारण अस्वादिष्ट भोजन तथा असाधारण कपड़े इसलिए नहीं खाता, पहनता कि उसे वे स्वभावतः अच्छे लगते हों, वरन् इसलिए कि वे उन्हें सुलभ नहीं होते तथा आत्म-संयम अथवा किसी सिद्धि के बाधक होते हैं। वे साधन-रूप में ही रहते हैं, साध्य-रूप में नहीं। जैसा तुमने उस दिन कहा—"कोई दुख नहीं सुख ही चाहता है।" जो साधु-महात्मा सांसारिक ऐश्वर्य को छोड़ देते हैं, वे किसी और बड़े ऐश्वर्य की ही सिद्धि के लिए तथा कुछ सिद्ध होकर भी जो छोड़े रहते हैं वह इसी लिए कि शायद हमारी उपलब्ध सिद्धियों से वे हमें विरत न कर दें। यदि वे उस ऐश्वर्य के रहते हुए भी अपनी सिद्धियों को रख सकें तो कदापि उसे न छोड़ेंगे। निश्चित स्थायी सिद्धि तो वही है कि भुक्ति और मुक्ति दोनों साथ रह सकें।

यदि सारे संसार को हम ऐश्वर्यशाली बना सकें, तो क्या आवश्यकता कि उसे ऐश्वर्य-जनित विषमताओं के भय से अकिंचन ही रक्खें। ऐश्वर्यशाली को

ही हम क्यों न सौम्य और शिष्ट बना दें ? यही व्यवस्था पूर्ण और वांच्छनीय है। जब तक आध्यात्मिक सिद्धियाँ भौतिक ऐश्वर्य की कसौटी पर खरी न उतरें तब तक उन्हें खोटी ही समझना चाहिए। कोई विजन वन में रहकर नहीं कह सकता कि मैंने कंचन तथा काम-वासना को जीत लिया। कंचन और कामिनी के बीच रहकर जो शिष्ट, सज्जन तथा साधु रह सके—उनका उपभोग करते हुये भी अशिष्ट न हो—वही परम योगी तथा महापुरुष है, वही सर्वोच्च, सर्वांगपूर्ण मानव आदर्श है। सब कुछ छोड़कर विजन वन में कोई सिद्धि मिली भी तो वह क्या ? और यदि इस आदर्श को अपना कर सारा संसार ही विरक्त हो जंगल में कुटी रमा ले तो फिर तो सृष्टि हो ही न सकेगी और वह भी, शायद कोई सिद्धि प्राप्त होने के पहले ही, भूखों मर जायगा। सर्वोच्च मानव आदर्श की स्थापना राम तथा कृष्ण सरीखे महापुरुषों ही में हो सकती है।

२४

सविता अस्वस्थ ही होती गयी। अब उसकी दशा संकटापन्न हो चली थी। प्रति दिन उसके स्वास्थ्य का समाचार योगेन्द्र को मिलता रहता। बाबा न होते तो इस समय उन्हें असीम कष्ट होता। लिखा-पढ़ी करने पर बाबा को भी उनके साथ उसे देखने की स्वीकृति मिल गयी।

वे एक बंद लारी में बिठाये जाकर रोगी के पास पहुँचाये जाने लगे। आज न जाने कितने वर्षों पर बाबा ने इस तरह जेल के बाहर संसार को देखा। वह उन्हें जैसे अपरिचित सा लगा। उनकी सोयी हुयी स्मृतियाँ जाग गयीं। परंतु वह वयोवृद्ध योगी अंतरंग, बहिरंग, मानसिक, भौतिक—न जाने कितनी आपदाओं तथा विभिषिकाओं की चक्की में पिसा जा चुका था। योगेन्द्र ने बाबा की ओर देखा। वे हिमाचल से, उषा-रंजित हिमाचल से अचल थे। उनकी मुसकुराती हुई आकृति कह रही थी—"महाकाल ! तेरे प्रत्येक विष्कंभ का, विश्वमय परिवर्तन ! तेरे प्रत्येक अभिनय का स्वागत है।"

लारी घर के पास आ रुक गयी और वे तुरंत सविता की रुग्णशय्या के समीप पहुँचे। दवा देकर मुड़ती हुई चन्द्रा ने, विस्मित और विमुग्ध सी, सजल नेत्रोंयुत, बाबा के पैर पकड़े। आशीर्वाद दे बाबा ने खाट में सिमटी हुई सविता के मस्तक पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटी, कैसी तबियत है ?" सविता की आँखें खुल गयीं। उसने बाबा के चरण छूने का प्रयास किया, पर उठ न सकी। बाबा ने उसका हाथ पकड़ कहा—"सौभाग्यवती, पुत्रवती हो बेटी।"

सभी लोगों के सामने का अँधेरा हट उजाला-सा हो गया। सविता में जैसे नूतन स्फूर्ति, नूतन चेतना आ गयी हो। उसने उनकी तथा योगेन्द्र की ओर छलछलाई हुई आँखों से कहा—"बाबा, क्या अब मैं देश की सेवा न कर सकूँगी ?"

बाबा ने भाग्य की अटल व्यवस्था-सा उसकी ओर देख मुसकुरा कर कहा—"महाशक्ति मनोवांछित अवसर न देगी तुमको ? तुम तो मरकर बच गयीं, फिर तुम्हें क्या डर मेरी बच्ची ?"

फिर चंद्रा से बातें होने लगीं। उसी समय उन्हें ले आनेवाले पुलिस कर्मचारी के पास नया आदेश आया कि योगेन्द्र अपनी पत्नी की सेवा में तब तक रह सकते हैं जब तक उन्हें कुछ अच्छा न होने लगे अथवा जब तक उन्हें किसी भी समय जेल में वापिस होने का आदेश न दे दिया जावे। इस तरह जितने दिन वे बाहर रहेंगे उतने दिन उनके कारावास की अवधि में न गिने जायँगे। अजीत सिंह देख लेने के बाद तुरंत जेल में वापिस किये जावें।

एक घण्टे के बाद बाबा फिर उसी लारी में बैठ अपने जेल में गये और योगेन्द्र सविता की सेवा-शुश्रूषा करने लगे। औषधियों से कहीं अधिक लाभ उसे योगेन्द्र के संसर्ग से हुआ। सरकारी डाक्टर सरकार को नित्य के समाचार सूचित करते।

एक दिन आठ बजे दिन वही कैदियोंवाली लारी योगेन्द्र को फिर ले जाने आयी। बस एक सप्ताह उनका सविता के साथ बीत पाया था। वे जाने को तैयार हो गये। चन्द्रा को नमस्कार किया और सविता से कहा—"अब मुझे तुम्हें छोड़कर फिर जाना पड़ा।"

सविता ने कहा—"जाओ खुशी खुशी जाओ। बाबा का आशीर्वाद कहाँ जायगा ? मुझे अच्छा तो हो ही चला है।

वे भाभी और पत्नी की ओर देखते देखते विदा हो गये।

बेचारे डाक्टर इस विदा से सिहर उठे, मसोस उठे। डाक्टर तो डाक्टर, एकाध पुलिस भी, जिनकी खूनी लाल पगड़ी और कठोर खाकी वर्दी के नीचे भी कोमल हृदय था, हिल उठे। वे मन में कह उठे—"शक्ति होती तो इस सरकार को चूर-चूरकर धूर में मिला देते। धिक्कार है ऐसी नौकरी पर !"

सविता का स्वास्थ्य फिर गिरने लगा। योगेन्द्र का हृदय धड़का करता, मानो सविता की नाड़ी का तार उनके हृदय तक लगा हो। उन्हें हफ्ते में दो बार उसे देखने की छुट्टी सरकार से स्वीकृत हुई। वे यथासमय उससे मिलने चले आते। परतु वह मिलन था या केवल विदाई ?—जाना और आना। हृदय में आघात पहुँच जाता।

कहा गया कि यदि सरकार को विश्वास दे दिया जावे कि नेताजी (योगेन्द्र) आगे आनेवाले अधिवेशन तथा आन्दोलन में कोई भाग न लें तो दण्ड की शेष अवधि से मुक्त हो अपनी पत्नी के साथ रह सकते हैं। परन्तु ऐसे विश्वास देने की कल्पना भी वे नहीं कर सकते थे। यह विश्वास, यह आश्वासन उनके तथा उनकी संस्था के व्यक्तित्व, प्रतिष्ठा तथा निष्ठा को चोट पहुँचानेवाला अथवा सम्मानघातक था। परन्तु फिर सोचा—"क्या सविता का जीवन इनसे मूल्यवान नहीं है ?" फिर सोचा—"परन्तु ये ही तो उसके जीवन के तत्व हैं। यदि मैं ऐसा कर बैठूँ तो ऐसा न हो जाय कि उसके जीवन की बची-खुची आशा भी हाथ से जाती रहे।"

'जाओ, खुशी-खुशी जाओ'—क्या सविता के ये शब्द वे भूल गये थे ?

इधर सविता ने सोचा—"यह जो योगेन्द्र के संसर्ग से मुझे स्वास्थ्य लाभ होने लगता है और वे मेरे पास यथेच्छा रह नहीं सकते—इससे उन्हें कितना क्षोभ और विषाद होगा ? अतः मैं क्यों न समझ लूँ कि वे मेरे पास ही हैं और उनके ध्यान से वही लाभ क्यों न उठाऊँ जो उनकी उपस्थिति से उठाती हूँ ?

योगेन्द्र जब उधर एक हफ्ता सविता के साथ रहे और इधर दो-एक घण्टे के लिये उसे देखने आते तो कांग्रेस तथा संघ के कार्यकर्ताओं से घिरे रहते,

जो उनसे देश की प्रस्तुत राजनैतिक परिस्थिति तथा आगामी कार्यवाहियों के विषय में परामर्श तथा उचित आदेश चाहते थे। परन्तु चूँकि वे केवल अपनी पत्नी को देखने के लिये मुक्त किये गये थे और कभी कर्तव्य-च्युत होनेवाले न थे, उन्हें कोई परामर्श तथा आदेश न देते और कहते कि प्रस्तुत परिस्थिति तथा प्रगति की पूरी जानकारी न रखते हुए मैं कोई उचित सम्मति दे भी नहीं सकता।

सविता के कानों में भी उस विश्वास तथा आश्वासन की बात पड़ गयी थी। कभी-कभी वह यह सोच कर बेचैन हो जाती कि कहीं मेरे लिए वे सरकार से यह अपमानजनक समझौता कर न बैठें। उसने चन्द्रा से अपने मन के भाव कहे। उन्होंने उसे पूर्ण आश्वासन दिया। सविता ने कहा—"यह तो यों हुआ, परन्तु तुम अपनी दशा तो देखो तनिक बहन!"

मुझे क्या हुआ है रे पगली, यों कह चन्द्रा मुस्कुरा उठीं।

अब की जब योगेन्द्र सविता को देखने आये तो उसे हर ओर से प्रसन्न देखा। उसके तरुण किन्तु शुष्क अधरों पर मंजु मुसकान मुकुलित देखी। उसने उनके धुँधले हृदयाकाश को आलोकित कर दिया—अवसाद का घना कुहरा फाड़ दिया, उड़ा दिया। वे बोले—"सविता, आज तुम प्रसन्न दीखती हो। ऐसा ही हो। पहले तो मन चुराया करतीं, परन्तु अब की तो मेरी हँसी-खुशी सब चुरा ली। लेकिन आज उसे वापिस कर दिया, जैसे वसंत सारा उल्लास-लास और मधु गान पतझड़ के दुपट्टे में समेट चल देता है और फिर एक लंबे समय के बाद आकर बिखेर देता है।"

सविता और चन्द्रा हँस पड़ीं। फिर सविता ने कहा—"आश्वासन की बात कैसी है? देखो कहीं तुम मेरे लिए ऐसा आश्वासन दे न देना। मैं तो अच्छी हो चली।"

"नहीं दूँगा। भाभी से तो कह दिया था। तुम निश्चिन्त रहो। है न?"

सविता प्रसन्न मुख उनकी ओर देखती रही। योगेन्द्र झुककर उसके अधरों को चूम फिर उसकी ठोढ़ी पकड़ हँसते-हँसते विदा हो गये। सविता में एक नूतन स्फूर्ति-सी दौड़ गयी, जो किसी भी टानिक से नहीं दौड़ सकती थी। कहाँ और सब टानिक, कहाँ प्रेम का टानिक!

तीन बजे दिन अपनी कहानी कुछ लिख लेने पर योगेंद्र ने पूछा—"बाबा, क्या श्याम भैया से इस बार भेंट न होगी ?"

बा०—"हो सकती है। जितने कैदी यहाँ से वहाँ गये हैं वे थोड़े ही दिनों के लिए।"

इतने ही में बेड़ी की झनझनाहट सुन पड़ी। कैदियों का एक झुण्ड जिसके आगे-आगे श्याम थे—सामने आ रहा था। उनके अपने-अपने स्थान पर चले जाने के बाद शाम उनके पास जा पहुँचे।

योगेन्द्र बोले—"भैया, मैंने तो समझा इस बार भेंट न होगी।"

श्याम ने कहा—"भैया, मैं तो यही मनाता रहता हूँ कि भेंट न हो इस तरह। पर तुम्हें देख मैं क्या नहीं देख लेता—जो युग बीत गया, जो है, जो आयेगा—सब देख लेता हूँ—सब तुम्हारे अपने हैं। जीवन की अटल विजय तुम्हारी ओर ललकती चली आ रही है। तुम बाबा के पूर्ण प्रतीक हुए जा रहे हो।"

यो०—इस बार तो तुम कविता करने लगे भैया।

श्या०—कविता के साक्षात् दर्शन कर किसी के मुख से कविता निकलने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

दूसरे दिन प्रातःकाल तरल मोतियों से भरी हुई फूलों की पंखुड़ियाँ देख योगेन्द्र ने कहा—"बाबा, ये फूल अभी वैसे ही हैं। कुछ देर ये अपने प्रेम के तरल तराने गा विश्व को अपना सौरभ देने लगते हैं।

बाबा—बेटा, तुम्हारी लगायी हुई फुलवाड़ी में और श्याम सूखने देता ? हवा में तो ऐसा लगता जैसे ये तुम्हारी याद कर सिहर उठते हों। तुमसे ही लगाये जाकर तुमसे ही ये जीवन के गान क्यों न गाएँ !

श्या०—भैया, इन्हें देख देख हमें तुम्हारी याद बहुत सताया करती और सान्त्वना भी देती रहती। हम चले जाते हैं, हमारी कृतियाँ रह जाती हैं। वे बताती हैं—कुछ छोड़ जाओ—अपने को छोड़ जाओ—अमर कर जाओ।'

यो०—ये मुझे जेल में बुलाते रहे, क्या अपना प्रसन्न जीवन देने के लिये ? लेकिन यह कैसी दौड़ हो रही है जीवन की बाबा ? अदृश्य, अज्ञात वायु के झोंके-सा न जाने किस सुदूर से आ कुछ क्षण लता, पुष्प, लहरों, मृगतृष्णाओं आदि में अठखेलियाँ कर फिर न जाने कहाँ किस अज्ञात सुदूर में अदृश्य हो

जाना ! एक ओर जन्म दूसरी ओर मृत्यु, बीच का अवकाश जीवन । हम कौन हैं, कहाँ से आते हैं, कहाँ जाते हैं—क्या हम इनके जानने के अधिकारी नहीं ? हममें कोई शक्ति नहीं ? सारे विश्व को हिला देनेवाली जर्मनी तथा हिट्लर की शक्ति भी एक चींटी की तरह अवसन्न की जा सकती है। उसकी समग्र शक्ति, समग्र विज्ञान भाग्यचक्र के साधारण चक्र से पराभूत हो जाय, भूतों के निर्माणक तत्वों को जानते और रखते हुये भी चोला से चलता हुआ पुतला वह न बना पाये अथवा इस पुतले से निकलते हुये उसे न रोक पाये !

बा०—ये तुम्हारे जीवन के आनेवाले अध्याय हैं। तुम्हारी महाक्रांति तुम्हें महाशांति देगी। महा विषमता में तुम पूर्ण समता पाओगे !

श्या०—बाबा, भैया की जिज्ञासाएँ, प्रेरणाएँ महान् हैं।

यो०—महान् हैं भैया ! भला ये किसे न होती होंगी ?

एक दिन योगेन्द्र ने चित्रोंवाली एक बहुत सुंदर पुस्तक—जिसमें देश की स्वतंत्रता के लिए काम आये हुए शहीदों के चित्र, नाम और कार्यावली का विवरण था—दिखाते हुए कहा—"बाबा, स्वतंत्रता देवी के चरणों पर इतने माई के लाल बलि चढ़ गये हैं; परंतु अभी वह प्रसन्न नहीं दिखती। अभी न जाने कितनी आहुतियाँ वह चाहती है !"

बाबा उसे बड़े ध्यान से देखने लगे—एक एक कर। देर बाद दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुये बोले—"बेटा, अब वरंब्रूहि की बेला दूर नहीं। तुम इसके साक्षात् प्रमाण हो।"

यो०—बाबा, स्नेहवश तुम मुझे न जाने क्या क्या आँक देते हो।

श्या०—नहीं भैया, बाबा अक्षरशः सत्य कहते हैं।

२५

देश की परिस्थिति तथा प्रवृत्ति के अनुसार बहुत से उन्नायक आयोजन निश्चित कर दिये जाते—वास्तव में कुछ करने के लिए नहीं, केवल यह दिखलाने के लिए कि हम बहुत कुछ करना चाहते हैं। सरकार की यह एक बहुत बड़ी राजनीति थी। चाहती तो सचमुच सरकार यह थी कि इस देश को अविश्वस्त और पंगु बना इस पर सुदीर्घ काल तक अपना प्रभुत्व स्थापित किये रहें।

कितने कमीशन देश की स्थिति और उसकी माँगों को जाँच करने आये और अपनी उदात्त, सुंदर, सुथरी किन्तु तथ्यहीन रिपोर्टें भी दीं। लोगों को उन पर कोई विश्वास तथा उनसे कोई आशा न रही। अब वे उनकी प्रतारणा से भिज्ञ हो गये थे।

अंतिम कमीशन जो आया वह बड़ी धूमधाम से और सच्चे दानशील के वेश में। परंतु उसकी सहानुभूति का परिणाम इतना ही हुआ कि देश के प्रतिनिधि का बुलावा विलायत के पार्लियामेंट में हुआ।

इधर यह भी निश्चित हुआ कि कांग्रेस भी व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव में खड़ी हो। परंतु लिबरलदल का कोई भी नेता इस प्रतिद्वंद्विता में कांग्रेस का कोई सहयोग न पायेगा—कांग्रेस कमिटी ने यह भी तय कर दिया। इसका कारण यह था कि कांग्रेस के सिद्धांतों तथा नीतियों का पूरा अनुयायी वह न था।

कांग्रेस को इस चुनाव में अच्छी सफलता मिली। परंतु अभी गवर्नरों के विशेषाधिकार के कारण कोई ठोस कार्य नहीं किया जा सकता था। अभी तो यही सोचकर उसमें प्रवेश किया गया था कि बैठने की जगह मिल जाय तो लेटने की जगह बना ही ली जायगी।

तदनन्तर एक सुद्रुतगामी वायुयान ने प्रतिनिधि नेताओं को अपने पंखों पर ले सुदूर देश को चलने की तैयारी की। पहले वह पक्की सड़कों पर कई चक्कर काट धीरे-धीरे घिरघिराता हुआ आकाश में मँडराने लगा। फिर ऊपर उठा और हिरहिराता तथा वायु-मण्डल को चीरता हुआ तीर

की तरह चल पड़ा। जैसे हमें अपने सुदूर देश के शासकों के सद्विचारों का पता नहीं चलता वैसे ही भूचरों को इसका भी नहीं—ये समझते हैं कि वायुयान तारों की ऊँचाई पर जा रहा है; क्योंकि रात में जहाज की बत्तियाँ जलते हुए तारों-सी तारों के ही गगनतल पर चलती हुई आभासित होकर ऐसा आभास कराती हैं मानो वह उसी तल पर जा रहा हो;—परंतु वह तारों को कब छूता है?

पेड़ों, चिमनियों के उठते हुए धुआं, नदियों, नहरों तथा समुद्र के ऊपर होते हुए उसने कुछ घण्टों में उन्हें एक टापू में उतार दिया, जहाँ भारत की भाग्य श्री विराज रही थी। देश यहाँ और इसकी सुख श्री वहाँ!

कई दिनों तक गोलमेज की बैठक होती रही। पर्याप्त सहानुभूति दिखायी गयी। भारत-हित की एषणा शब्द-शब्द से व्यक्त हो रही थी। सब कुछ देने की बात थी, फिर भी कुछ भी देने की नहीं। जो कुछ था वह सुंदर, सम्मोहक शब्द-जाल था—बस। सरकार अपना विशेषाधिकार छोड़ नहीं सकती थी; सेना विभाग अपने हाथ से जाने दे नहीं सकती थी; औद्योगिक धंधों को मौलिक रूप में होने दे नहीं सकती थी; तांत्रिक, सामाजिक तथा साम्यवादी निर्माणों की नींव पड़ने दे नहीं सकती थी—आदि आदि। अंत में वही हुआ जो आशा थी। परंतु विलायत की पार्लियामेंट ने ऐसी शिष्टता, निर्भीकता तथा अविचलता के साथ भारत की बातें शायद एकाध ही बार सुनी हों। प्रतिनिधि के संभाषण ने कितनों को हिला दिया, कितनों को आकंपित कर लिया, कितनों को द्रवित कर दिया, कितनों को चकित कर दिया। ऐसा लगा कि भारत की सुषमा-श्री जो वहाँ बाँध ली गयी थी अपने प्रतिनिधि के साथ अपनी जन्म-भूमि जाने को मचल उठी।

वहाँ के मजदूर दल ने भी सरकार के विरुद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन आरंभ कर दिया था। उसने भारतीयों के स्वागत का बहुत बड़ा विधान कर रक्खा था। परंतु उसकी अभिलाषा सरकार ने पूरी न होने दी।

२६

ब्रिटिश साम्राज्य ने अपनी रक्षा के लिए सागर-सी विशाल सेना और पुलिस रक्खी थी; परंतु उसकी नींव शासित देश की आपसी फूट पर ही पड़ी थी; और उसकी सेना तथा पुलिस से भी दुरूह कार्य उसकी कूटनीति किया करती।

वीरों की संतान, ऋषियों की संतान भारतीयों ने ऐसे शक्तिशाली साम्राज्य का सामाना करने के लिए ऐसा सत्याग्रह संग्राम निकाला जो, उसके लिए तो नहीं, पर अन्य सभी राष्ट्रों के लिए एक नूतन और अद्भुत आविष्कार था। शत्रुओं की तलवारें निहत्थों के रक्त से कुठा गयी थीं। नृशंस देव अपने ही रंगमंच पर हताहतों के ऊपर थक कर गिरा जा रहा था। पर अंतिम दम तक वह दम लेनेवाला नहीं था।

धर्मान्धता तथा अमानुषी धार्मिक कट्टरता ने इस पवित्र भारतभूमि को अशेष शताब्दियों तक अशेष निर्दोषों के रक्त से रँगा है। इस घोर संघर्ष ने इस देश की आर्ष चेतना को रौंद रौंद कर अचेत कर डाला। इसने अपने भयंकर विकर्षक इतिहास भी देखे हैं, परंतु अभी वैसाही दूसरा इतिहास भी प्रस्तुत करने को प्रस्तुत है।

सरकार ने कांग्रेस में हिन्दुओं का बहुमत देख और मुसलमानों की प्रवृत्ति को अपनी सिद्धि का अधिक साधक समझ उनकी पीठ पर हाथ रक्खा। कुछ तो अपनी साम्प्रदायिक कट्टरता और धार्मिक असहिष्णुता के कारण और कुछ सरकार के बढ़ावे में आकर भड़क उठे। देश के कितने अच्छे अच्छे मुसलमान नेता, जिन्होंने देश की स्वाधीनता के लिए बहुत कुछ किया था, ज्यों-ज्यों कांग्रेस तथा संघ अपने पथ पर आगे बढ़ता गया, उससे अलग हो सरकार से मिलते गये—देश-सुख के बदले अपने सुख में भूल गये—अपने गेरुये रख जरकशी के ठाट ठाट लिये—आजादी के बाने रख गुलामी के कुलावे पहन लिये। जिन पर लाखों की उँगलियाँ असीम श्रद्धा और सम्मान से उठती थीं, उन्हें देख आँखें नीची हो जातीं और अपमान और घृणा के इशारे होते। जिन्होंने ऊँचे-

ऊँचे मंचों पर खड़े हो हिन्दू-मुस्लिम एकता पर अपने प्रभावशाली भाषणों से असंख्य जनता के हृदय में प्रेम की धारा बहायी थी, वे ही आज उन्हें जलकर राख हो जाने के लिए साम्प्रदायिक ज्वाला उत्पन्न कर रहे थे। क्या वे सोच सकते थे कि जिस सरकार के लिए वे अपने घर में आग लगा रहे थे वह उनके प्रति अपने मन में क्या सोच सकती थी या सोचती होगी ? वे क्यों सोचते और क्यों सोच पाते ? बड़े-बड़े सरकारी ओहदों पर जा वे नौकरशाही की जय बोलने लगे और कितने उनसे भी बड़े ओहदे पर जा अपनी जाति के नेता बन उसे देश-सेवा के विरुद्ध भड़काने लगे, और क्षीण मुस्लिम लीग को ऐसा पीन कर दिया कि अब वह कदाचित् ही नाम मात्र को भी एक राजनैतिक संस्था रह गयी।

इधर गत महासमर सा ही भयंकर महा समर फिर विश्व को शताब्दियों के लिए ध्वस्त करने आ पहुँचा था, अभी उसकी क्षति पूरी भी न हो पायी थी। विश्व के सभी ऐश्वर्यशाली सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को आत्मसात तथा अपनी विषैली आर्थिक तृषा तृप्त करने के लिए निशस्त्रीकरण, विश्वसंघ तथा साम्यवाद के नकली कवच पहन रणक्षेत्र में उतर आये। हमारी सरकार अपनी विचक्षण कूटनीति से काम लेने लगी। सबल राष्ट्रों के विरुद्ध उसने निर्बल राष्ट्रों का रक्षक और सहायक बन उन्हें आगे बढ़ाया। नीति उसकी यही थी कि सबल शत्रु राष्ट्र इस पर आने के पहले ही इन संयुक्त राष्ट्रों से लड़कर अवसन्न हो जायँ। इसी नीति ने इस राज्य की नींव डाली, इसे बढ़ाया और अब तक कायम रक्खा, और शायद यही इसके विनाश का भी कारण हो।

युद्ध-केन्द्र योरप ही था, परंतु संसार की कोई भी शक्ति ऐसी न थी जो इससे अप्रभावित तथा अछूती रही हो। दुनिया के साथ-साथ उसके रंग-ढंग भी बदलते रहते हैं। युद्ध-कला में भी साधारण परिवर्तन नहीं हुआ। कभी तलवार, बन्दूक और तोपों से जमीन पर लड़ाई होती रही। फिर नव आविष्कार हुआ और सागर के वक्ष पर फौजी बेड़ों की धूम मची। कुछ दिन के बाद आसमान की बारी आयी और तब हवाई जहाज, बम और गैसों की धूम मची।

अभी तो सरकार लड़नेवाले मित्र राष्ट्रों के पीछे लग्गा लगाये खड़ी थी, बहुत दूर; परंतु फिर भी जर्मनी की अजेय शक्ति से काँप रही थी। नैपोलियन

बोनापार्ट ने शायद हिट्लर का अवतार ले लिया था। उसका कोई बम कहीं ऐसा न गिरा जिसने लंदन की छाती न धड़कायी हो। जो शक्ति जर्मनी ने उस तथा इस बार संचय की थी वह विश्व के इतिहास में निश्चय ही कभी नहीं देखी गयी थी। परंतु महाशक्ति को उसे चकनाचूर ही करना था। शायद इस लिए कि उसका लक्ष्य परतंत्र को स्वतंत्र करने का नहीं, अपितु स्वतंत्र को भी परतंत्र कर देने का था।

सरकार ने समुद्र में रहने के कारण अब तक इस अपने जहाजी बेड़े को ही बढ़ाया था और भारत को बचाने के लिए एक विशाल सेना भी रक्खी थी। इस प्रकार यह सुख की नींद सो रही थी। इसे जैसे इतने बड़े आसमान और इसमें पैदा होने वाली हवाई शक्ति का भान ही न हो, वह जैसे कल्पना भी न करती रही हो कि वात, पित्त, कफ—इन सबमें वात ही सबसे प्रबल और वाचाल है—वही सब को इधर-उधर कर विनाश का कारण होता है। अतः इसे नयी तैयारी करनी पड़ी—हवाई जहाज और हवाई अड्डे बनने लगे।

परती जमीन रहते हुए भी इंजिनियरों की जंजीरें उन बस्तियों पर चढ़ गयीं जो हरी-भरी फसलों से लहरा रही थीं। कितने ओले, अंगारे गिरे भूकंप आये, परंतु उर्वर हरियाली सहस्रों प्राणियों का पालन किये बिना न रही, वह इन काली जंजीरों और यंत्र द्वारा देखती हुई आँखों से सिहर उठी, काँप उठी! हरी-हरी फसलें काट ली गयीं और उनकी जगह सिमेंट, बालू, कंकड़, पत्थर, इंजिन और न जाने क्या क्या का ढेर लग गया, सड़कें, विचित्र-विचित्र बँगले, पायखाने, पेड़ों की आड़ में, छाया में बनने लगे। पता नहीं पायखाने इतने क्यों बने? कदाचित् बमबाजी के समय दस्त खुल जाने की बहुत बड़ी आशंका थी।

शताब्दियों से खड़े मकान, बाग आदि आदि गिराये जाने लगे। जिन लोगों ने भूकंप जैसी दैविक घटनाओं के अतिरिक्त अपनी जन्मभूमि तथा अधिकारों के ऐसे विनाश की कल्पना भी न की होगी, वे मानवी हाथों से ही उनका विषम विध्वंस देख रहे थे। वे दीवालें, वे घर जो कितनी सुन्दर थातियाँ रख रहे थे, कितने लालों का सौर-गृह और कितने दम्पतियों का प्रणय-निलय तथा सुहाग-रात सदन रहे, भूमि पर गिरा गड्ढों

में ढकेल दिये गये। वे इतने दुर्वह भार से दबा दिये गये कि उनकी आह भरी स्मृतियाँ भी जो धूल की भाप-सी उठतीं, विलीन हो गयीं। वे वृक्ष जो अपने पाणिपल्लव सुमधुर फलों से भर पथिकों की ओर बढ़ाए रहते, भूमि पर गिर पड़े और उनकी वे दानी भुजाएँ टूट गयीं। इतना ही नहीं, वे खण्ड-खण्ड कर दिये गये और कहीं धरन, कहीं मेज, कहीं कुर्सी, कहीं टेबुल आदि बने, कहीं जलाकर कोयला कर आग में झोंक दिये गये, कहीं कुछ सड़-गल गये, और अभी न जानें क्या-क्या कर दिये जाएँगे। मानव संसार में ऐसा क्यों, ऐसे युद्ध क्यों? क्या यह संसार युगे-युगे अपने बापू की पुकार सुन उसके कल्याण-मार्ग पर न चलेगा?

उन स्थानों के निवासी घर-बार से विहीन हो कंजड़ों की तरह इधर-उधर भटकने लगे। सरकार से उन्हें मुआवजा देने की बात चली। परन्तु जनता जानती थी कि कितने दिनों में मुआवजे के कागज बनेंगे और कब और कितना मुआवजा उन्हें मिलेगा। और उन सरकारी अफसरों से भी वह विज्ञ थी जो मुआवजा देने को नियुक्त किये गये थे।

हवाई अड्डे ही नहीं, बहुत बड़े-बड़े स्टोर डिपो भी बने, जहाँ देश भर की खाद्य सामग्रियाँ मन-माँगे भाव पर खरीद कर भर दी गयीं। न जाने कितने बड़े-बड़े मकान किंग फुलिश मैन की अंतहीन कहानी सुनानेवाले की कहानी के मकान की तरह छत तक भर दिये गये। सरकार ने एक नया आविष्कार कंट्रोल का किया। उसने गल्ले पर अपना अधिकार कर उस पर प्रतिबंध लगा दिया। नागरिकों के समक्ष नयी परिस्थिति आयी। जिस छटाँक के भाव से राशन मिलता था वह अपर्याप्त था। पासा पलटता है। नागरिकों का जीवन रूखे-सूखे ग्रामीणों से सदा ही अच्छा रहा। परंतु अब तो देहात ही अच्छा था; क्योंकि पेट की समस्या सबसे बड़ी है। देहातों में गल्ले का कंट्रोल न था।

अब तो वे शहरी जो अपने को बहुत ऊँचा समझते और देहातवालों को ओछी निगाहों से देखते, उनसे बेनाते का नाता जोड़ने और देखते ही पहले ही हाथ उठाने लगे।

ऐसी नौबत आयी कि शहर के कितने महाजनों के आराम, बाग, उपवन जो उनकी देहात की जिमीदारी में थे, काटकर खेत बना डाले गये। इधर

जनता भूखों मर रही थी, उधर सरकारी अन्न-कोषों में गल्ले सड़ रहे थे। आधे सड़े हुये हजारों-लाखों मन गल्ले बाजारों में भेज दिये जाते और पूरे सड़े हुये जला दिये जाते। सब कुछ रहते हुये भी दुर्भिक्ष आ गया। उधर युद्ध की महामारी, इधर दुर्भिक्ष की। असंख्य जन काल-गाल में चले जा रहे थे।

कांग्रेस तथा संघ हवाई अड्डों से निकाले हुये लोगों को रियासतों तथा अन्य स्थानों में बसा और क्षुधा-पीड़ितों के भोजन का यथासाध्य प्रबंध कर रहा था। सरकार भी इस कार्य में हाथ डाले हुये थी—खानापूरी कर रही थी। वस्तुतः तो उसे अपने स्टोरों और रिक्रूटों की भरती देखनी थी। बलिहारी है इन अमानुषी महासमरों को!

× × × ×

चन्द्रावती और योगेन्द्र सात आठ बजे बंगाल अहाते में पहुँचे। शोचनीय, संवेदनीय और दयनीय दशा थी वहाँ की। स्वयंसेवक दल बड़ी तन्मयता और तत्परता से काम कर रहा था। सरकारी कर्मचारी भूखों मरती जनता को कुछ खिलाने-पिलाने में स्वयंसेवकों के साथ उतनी तन्मयता और तत्परता न दिखाते जितनी भूखे मरे हुये लोगों को लारियों में बंद कर तन्निमित्त बने हुये गड्ढों तथा खारों में झोंक आने में। युद्ध और बलवों के समय यह उनका मजा हुआ काम था।

नेताओं ने दूर दूर तक घूमकर यह दयनीय दृश्य, यह बीभत्स देखा। उन्होंने वहाँ के धनियों से काफी रूपये और गल्ले एकत्र किये और अपने आवश्यक कोष से भी रूपये दिये। फिर भी आवश्यकता की पूरी पूर्ति न हो सकी।

ऐसे असमय में भी लगान की वसूली, कुर्की, नीलाम आदि कार्रवाइयाँ हो रही थीं। हाकिमों के दौरे भी इसी समय आ पड़े थे। ये दौरे साल के साधारण और अकाल के असाधारण भी थे।

ऐसे अवसरों पर धूम-सी मच जाती है—छोटे अफसर, अहलकार देहातों में एलान-सा कर देते हैं—हाकिम आये हैं, इतने अंडे, इतना मांस, इतना दूध, इतना पुआल, इतनी लकड़ी, इतना गन्ना का रस चाहिए। जब लोग

दाने-दाने को मर रहे थे, सरकारी लोग हाकिमों को खुश करने के लिये तथा उनके बहाने अपनी मौज के लिये ये सब सौगात एकत्र कर रहे थे। मँगनी की मुर्गी और उसके सभी अंडे, बीरू और उसके पड़ोसियों की गायों के दूध और मथुरा आदि के गन्ने और मटर की फलियाँ आदि आदि वस्तुएँ ले ली गयीं। इस समय उनका क्या मूल्य था, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

इन सौगातों के साथ ही चन्द्रावती और योगेन्द्र भी हाकिम के डेरे के समीप पहुँचे। साहब खेमे के बाहर आराम कुर्सी पर बैठे सिग्रेट पी रहे थे। उनके मुख से निकले हुए धूँएँ में कितनी, परितृप्ति, कितनी निश्चिंतता, कितनी हरियाली, कितनी मस्ती थी। उस दुर्भिक्ष-दलित देश की दुर्दशा उस वातावरण को जैसे छू भी न सकी हो।

डेरे की बगल में बहुत से लोग अपनी विनती सुनाने को खड़े थे। परंतु न तो हाकिम के डर से वे उनके सामने जाने का साहस कर रहे थे और न अरदली, अहलकार उनसे बिना कुछ लिए उन्हें कोई उपाय बता रहे थे। जब उनके पाकेट गरम हो गये तब उन्होंने बतलाया कि कल दरख्वास्त लिखाकर आना, हम पेश कर देंगे। मक्खियों की दवा दाहिने से खाना, बाएँ से उड़ाना......।

चंद्रावती और योगेन्द्र सब कुछ देख रहे थे। वे इतने साधारण वेश में और खिन्न थे कि कठिनता से पहचाने जाते। इधर वे दुर्भिक्ष-दलितों के ही साथ रह और उनके से ही भोजन भी कर रहे थे। वे साहब के सामने चले गये। उन्होंने त्योरी बदल पूछा—"तुम लोग कौन ?"

योगेन्द्र—हमलोग यह पूछने आये हैं कि देहात से जो सामान आये हैं वे पर्याप्त हैं कि नहीं ?

साहब ने विस्मित और कुछ क्रुद्ध हो कहा—"तुम लोग कौन हो ?... अरदली ?"

अरदली—हाँ सरकार।

हाकिम—ये कौन हैं ? यहाँ कैसे आ गये ? बड़े अजीब से हैं।

अ०—न जाने किधर से चले आये सरकार। दूर हटो दूर, यहाँ क्यों चले आए ? तुम लोग हो कौन ?

धो०—दूर रहो। इन अरदलियों को आपने इसीलिए रक्खा है कि जो लोग अपनी विनती सुनाने आयें उनसे ये रुपये वसूल करें, उनकी गर्दन पकड़ घसीटते रहें ? आप कहाँ हैं और कौन हैं, कुछ ध्यान है ? आप दुर्भिक्ष बढ़ाने आये हैं या घटाने ?

अरदली दूर खड़ा रह गया। साहब आँखें फाड़ उनकी ओर देखने लगे। जैसे वे स्वप्न से जाग पड़े हों। उनके भीतर और बाहर घना कुहरा छाया हुआ था, जिसके प्रकाश में चहचहाते हुये, जागते हुये, वे फूं मारकर सो रहे थे। वह फट गया। सहम कर सकुच कर आश्चर्य से कहा—"नेता जी! क्षमा कीजिएगा।"

कुर्सी से उठ आगे बढ़ उन्हें बैठने का आग्रह किया। वे बोले—"हमें इन कुर्सियों पर बैठने का सौभाग्य नहीं, हमें जेल की दो-चार हाथ की खड्डी ही पर्याप्त है। देश भूखों मर रहा है और आपके अहलकारों का यह हाल। कुछ दिन मुर्गी, अंडे, दूध इन मरणासन्नों के मुख से छीन कर न खाये-पीये जाते; कुछ दिन ये अरदली इन पीड़ित प्रार्थियों से दरख्वास्त पेश करने के बहाने रुपये न वसूल करते तो क्या बुरा होता ? हमारे साथ आ सकते हैं ?

मैं अपने को धन्य समझता हूँ आपके साथ आने में, यों कह वे उनके साथ हो लिये। रात हो गयी। ओह वहाँ की रात कितनी भयावह थी। भाँय ! भाँय !! साँय ! साँय !! कंकाल की मूक आकृति कह रही हो मानो—"मैं सबको खा जाऊँगी।" साहब ने ऐसी भयावह यामिनी क्यों देखी हो ? पर अपनी चहल-पहल से भरी सुंदर उजेली रातों में जीवन के कर्तव्य और उनके प्रशस्त मार्ग उन्होंने ऐसे कभी न देखे जैसे इस भयावह गहन तमिस्रा में देख रहे थे।

घोर अंधकार के बीच जाते हुये वे कुछ देर में नदी के किनारे एक गाँव के पास पहुँचे। वहाँ श्मशान नहीं था, परंतु दुर्भिक्ष ने उस स्थान को श्मशान का भी श्मशान बना दिया था। न जाने कितनी चिताएँ जल रही थीं, कितनी बन रही थीं और मुर्दों का ताँता लगा हुआ था कितने मुर्दों को तो कोई जलाने ही वाला न था।

"देखिए यह दुर्भिक्ष की—दुर्दिन की प्रदर्शनी ! ओह ! मनुष्य भूखों मरें,

जब मनुष्य के पास अशेष खाद्य सामग्री विद्यमान हो !" चंद्रावती ने एक लंबी साँस खींच कर कहा।

हा०—मैं क्या सुन रहा हूँ, क्या देख रहा हूँ ?

यो०—अभी क्या, आगे चलिए।

गाँव में जाकर देखा कि आधे से अधिक लोग भूख से मूर्छित थे और शेप किसी प्रकार दम भर रहे थे। छोटे छोटे बच्चे अपनी माँ से खाना माँग रहे थे। वे भूख से छटपटा रहे थे। माताएँ मर भी नहीं रही थीं, जब बच्चों की ऐसी दुर्दशा आँखों देख रही थीं। प्राणों के रहते वे मरें कैसे ? वे उनके मरने की घड़ियाँ और पल गिन रही थीं। सभी तो—बच्चे, माँ-बाप, भाई-बहन, सखा सुहृद, परिजन-पुरजन, प्रणयी-प्रणायिनीयाँ एक दूसरे के सामने छटपटा-छटपटा, तड़प-तड़प जल से बाहर की हुई मछलियों की मृत्यु मर रहे थे।

योगेन्द्र ने आह-कराह से भरे स्वर में कहा—"मणि-कांचन प्रासादों के भोग विलास देख उन्हीं आँखों से इन भूख से कराह-कराह मरते हुए नर-कंकालों—नर-पिशाचों को देखिए, ध्यान से देखिए, मन की आँखें खोल देखिए, हृदय को पास रख देखिए। विश्व के विधायको ! विश्व के विधानो ! क्या यही उचित है ? महाविधे !"

"नेता जी ! मैं··· । हाय ! यह सब क्या देख रहा हूँ ? बस हो चुका ! अभी हमारे खेमे में पधारने की कृपा कीजिये।" हाकिम ने जैसे विक्षिप्त हो कहा।

तीनों खेमे में पहुँचे। साहब बिना पूछे कुछ कहे-सुने खेमे में आग लगाने चले और बोले—"इसे जला इसी में मैं भी जल जाऊँ, मैं भी जल जाऊँ ! इस अधम शरीर में उनके रक्त निकाल कर भरे गये हैं जो आज भूखों मर रहे हैं ! इसमें उन्हीं की अँतड़ियों और तन्तुओं के ताने-बाने हैं।"

उनका हाथ पकड़ते हुए वे बोले—"इसे जलाइए न, इसमें दुखियों को बसा दीजिये, इसे पीड़ितों की सेवा में तपा दीजिये !"

पीड़कों का सेवक पीड़ितों का सेवक हो गया। तीन बेर खानेवाला तीन बेर खाने लगा !

अनोखे काया-पलट ! जन-जन के मन पर तेरा अधिकार हो जाता ! वैभव के विशाल आडम्बर ! पार्लियामेंट के भूतिमय भवनो ! कथरियों पर सोनेवालों को भी तुम अपनी गोदी में सुलाने लगते ! गोलमेज के राजनीतिज्ञों ! तुम कंकालों की भी भाषा समझने लगते । सुनते नहीं हो ? देखते नहीं हो—तुम्हारे मतवाले रागों पर एक प्रलय रागिनी मँडरा रही है ? तुम्हारे अति प्रखर प्रकाश पर प्रलय-ध्वांत छाया जा रहा है !

२७

जैसे कोई बड़ा मकान देखने में तो बड़ा सुन्दर, साफ-सुथरा, सुप्रकाशित और सुसमीरित हो, परंतु अधिवासियों को उसमें सुविधा तथा सुख-शांति के बदले कष्ट ही मिले—मच्छड़ काट खाते रहे, मक्खियाँ भिन-भिनाती रहें, साँप और बिच्छू रेंगते रहें, प्रकाश अंधकार से भी भ्रामक हो, सुमधुर-सा वायु शरीर को जलाता और साँसों को रूँधता रहे—, वैसे ही यह साम्राज्य भी है। इसके सभी विभागों के कमरों में छोटे-बड़े नौकरों तथा कर्मचारियों के मच्छड़-मकोड़े, साँप-बिच्छू आदि आदि भरे पड़े हैं। न्यायालय घूसखोरों, आलसी तथा कर्तव्य अवहेलकों से अन्यायालय हो रहे हैं। पुलिस की कहनी ही नहीं, पटवारियों से—चित्रगुप्त की संतानों से—जैसा वे अपने को कहते हैं—विधाता ने भी हार मान ली हो मानो। वे तीखी धार से गला घोंट देते हैं, तो वे उलटी छुरी कर धीरे-धीरे रेतते हैं। यही व्यवस्था सर्वत्र है।"

"हमलोग राज्य वर्ग के छिद्रान्वेषण के आदी हो गये हैं, परंतु अपने प्रजा-वर्ग के दोषों की ओर तो हमारी दृष्टि ही नहीं जाती। वे घूस लेनेवाले हैं, तो क्या ये घूस देनेवाले नहीं हैं ? प्रायः ये घूस क्यों देते हैं ? क्या इनका हृदय कम काला है ? क्या ये घूस देनेवाले अपने ही बन्धु-बान्धवों का स्वत्व छीन लेना, उन्हें कारा में भेज देना, उन्हें पंगु बना देना, उन्हें अवसन्न कर देना

नहीं चाहते ? क्या वे एक दूसरे के उत्कर्ष और उन्नति से जल कर नाना उपद्रव, नाना षड्यंत्र नहीं कर रहे हैं ? यदि इनके हाथ में शासन-सूत्र होता, ये सशक्त होते तो क्या ये प्रस्तुत अधिकारियों से कम अन्याय, कम अत्याचार करते ? क्या ये अपने छोटे-बड़े अधिकारों का—जो कुछ भी वह है—दुरुपयोग अथवा अवहेलना नहीं कर रहे हैं ?"

"कर रहे हैं, अवश्य कर रहे हैं। घोर नैतिक पतन हो गया है—प्रायः प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक परिवार, प्रत्येक समाज, प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक देश मानवी धरातल से स्खलित हो गया। यदि संसार किसी रोग से ग्रसित है, किसी पीड़ा से कराह रहा है तो वह केवल अमानवता से।"

"सत्य चाहे हम कैसा भी स्वराज प्राप्त कर लें—अखिल विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें, इस संसार को कुबेर का कोष सौंप दें, कल्पद्रुम और कामधेनु घर घर में कर दें परंतु मानवता के बिना हम कभी सुखी नहीं हो सकते, स्वराज भले प्राप्त कर लें, परंतु सुराज नहीं प्राप्त कर सकते। हम बुद्ध, ईसा और बापू की पुकार सुने बिना सुख-शांति तथा मानवी अधिकारों के अधिकारी हो नहीं सकते। मैं समझता हूँ, मेरा पूर्ण विश्वास है कि संसार में कोई महा संहारकारी अकाल पड़ता है तो धन-धाम का नहीं, मानवता का।

स्वराज हम पा रहे हैं, परंतु सुराज तो अभी बहुत दूर है। मानवता तो जैसे मानव संसार से रूठ गयी हो, जैसे उसका निर्वासन हो गया हो।"

रात को देवी चन्द्रावती और योगेन्द्र में देर तक बातें होती रहीं। फिर भी वे ऊषा की लाली फूटने के पूर्व ही उठ गये। आज ऊषा के मुख मण्डल से जो लाली फूटी है वही चन्द्रा के चन्द्रानन पर भी दौड़ गयी; परंतु तुरंत ही विलीन हो गयी।

योगेन्द्र ने उनकी ओर देख कर कहा—"भाभी, तुम्हारे आनन की ऊषा कहाँ चली गयी ?"

च०—साधारण से साधारण घरों में इतने उत्सव हो रहे हैं, परंतु उस घर में जहाँ अखिल विश्व, अखिल वैभव का निवास है, एक सुहाग रात की सुख-सज्जा भी न हो पायी।

यो०—भाभी, कभी तुमने मुझे अपने सुख की भी चर्चा करने दी ?

जिस जनसेवा के सुख में अपने सुख का समर्पण कर तुम पतझारों में भी पल्लवित और पुष्पित रहती हो, उसी में मुझे भी देख क्यों नहीं तुष्ट रहतीं ?

च०—नहीं हो सकती। सविता का इस तरह जाना, देवरानी से इस तरह दूर रहना मुझे क्यों न दुख दे ? उसकी कहानी भी न सुन सकी !

यो०—तुम्हें जितनी अपनी देवरानी की पड़ी है, उतनी अपने देवर की नहीं।

चंद्रा हँस पड़ी। वह लाली जैसे फिर लौट आयी हो।

मेरी कहानी लिखी जा चुकी थी, 'हम और हमारा शासन' पढ़ा जा चुका था, सूत काता जा चुका था; अब वे विश्राम करना चाहते थे। परन्तु तब तक द्वार पर खटखटाहट सुन पड़ी। जाकर देखा वही दाढ़ीवाला व्यक्ति था। कागजों का एक पुलिंदा दे वह लौट गया। उसे मुड़ते ही योगेन्द्र ने कहा—"आप अपना परिचय तो बतला देते।"

आगंतुक—अभी कोई आवश्यकता नहीं कह वह कार पर जा बैठा और वह सन्न से चल पड़ी। रात के सन्नाटे-सा ही उसके रव में भी जैसे कोई रव न रहा हो।

वे कागज उलटने पुलटने लगे। 'हम और हमारा शासन' के अधिकांश विवरण-सा ही आज के कागजों में भी कुछ लेख सनसनी से भरा हुआ था। वह था सफ़दर खान और वाइसरा की बातचीत—

वाइसराय-हम आप बड़े खतरे में हैं।

सफ़दरखान—मैं समझता हूँ।

वा०—आप की कौम के कितने बड़े-बड़े नेता कांग्रेस में अब तक टिके हुए हैं। शायद उनके विषय में आप की कोशिशें बेकार हुईं।

स०—जी हाँ। वे टिके ही रहेंगे। लेकिन इतना मैं निश्चय कहूँगा कि मेरी कौम का ज्यादा हिस्सा अपनी ही ओर रहेगा। हमारी मुस्लिम लीग उन्हें कभी अपना नेता नहीं मान सकती।

वा०—यह मुझे विश्वास है। जब तक आप अपनी माँगों पर अड़े रहेंगे तब तक कांग्रेस अपना चाहा हुआ अधिकार नहीं पा सकती। मिलामिलाया भी उसे लौटा देना पड़ेगा। लेकिन कांग्रेस तथा संघ की ताकत बढ़ती ही जा रही है।

स०—वह कुछ काम न देगी। जो अशांति फैलायी गयी उससे बड़ी कामयाबी रही। लेकिन अभी उससे भी अधिक की जरूरत है।

वा०—खूनाखराबी तो बहुत हुई, लेकिन वे बलवे बड़े काम के रहे।

सा०—दूसरा चारा नहीं, क्या किया जाय? ये हमेशा अपने हाथ में रहेंगे और हमारी कौम इसमें पिछड़नेवाली नहीं है। आपकी सल्तनत को हमारी कौम अपनी समझती है।

वा०—इसमें सन्देह नहीं। इसी से हम आपको अपना और अपने अधिकारों को आपके अधिकार समझते हैं। आपके उपकारों के हम सदैव ऋणी हैं और आप तथा आपकी कौम की चर्चा हमारे इतिहास में सोने के अक्षरों में लिखी रहेगी।

कृतज्ञतासूचक स्वर में खान साहब बोले—"मैं किसी लायक नहीं। सब आप की मिहरबानी है। हाँ, वह बात जो थी।"

वा०—उसके विषय में जो आप उचित समझें करें।

यह बात गुण्डों द्वारा कुछ नेताओं को मरवा देने की थी। सच कहा जाय तो वाइसराय की आत्मा इस बर्बर आसुरी कार्य को स्वीकार नहीं कर रही थी। परंतु यह भी उनकी नैतिकता की निर्बलता ही थी जो उसे उन पर छोड़ दिया।

यह गुप्त परामर्श मन्द समीरों के अतिरिक्त केवल उसी दाढ़ीवाले व्यक्ति से सुना गया था।

एक रात गुण्डों का एक सशस्त्र दल योगेन्द्र के मकान की ओर चला। पास पहुँच उसके एक व्यक्ति ने कुछ आगे बढ़ द्वार खटखटाया। नेताजी भीतर से द्वार खोलने ही जा रहे थे कि बाहर से कड़ी आवाज आयी—"खबरदार! दरवाजा न खोलना! गुण्डों का दल हक्का बक्का-सा हो गया; क्योंकि उसने अपने पीछे एक दूसरा सशस्त्र दल देखा, जो हैंडबम और तमंचों से लैस था।

सतर्क किये जाने पर भी अधिवासियों ने द्वार खोल दिया। परंतु तब तक दूसरे दल ने कहा—"बदमाशो! अपने हथियार रख दो नहीं अभी प्राणों से हाथ धो बैठोगे।" गुण्डा-दल ने उस पर आक्रमण करना चाहा, परंतु तब तक कितनों की छातियों में धड़ाधड़ गोलियाँ घुस गयीं। चन्द्रावती और योगेन्द्र के मना करते करते इतना हो गया। जो बच गये उन्होंने धीरे से अपने छुरे रख दिये।

वह दल उन हतों और अनाहतों दोनों को गट्ठर में बाँध चल दिया। उस घटना का कोई भी चिन्ह न रहने दिया गया। वे देखते ही रह गये।

× × × × ×

ब्रम्हा में लड़ाई बड़े जोरों से हो रही थी। सरकार के पैर उखड़े जा रहे थे और जापान का अधिकार धड़ाधड़ होता जा रहा था। इस समय कुछ नेता वहाँ भी पहुँच गये थे। इस परिस्थिति में भी सरकार हवाई अड्डों में काम लगाए हुए थी।

विचित्र हालत थी वहाँ की— मुर्दों के ढेर पर से गुजरना हो रहा था। जले-कटे सैनिक दम तोड़े पड़े थे। उनकी छाती सड़क बनी थी। किसीके कान नहीं, किसीकी नाक नहीं, किसीके, मुख नहीं, किसीके हाथ नहीं, किसीके पैर नहीं—ऐसा ही बीभत्स—अपरूप छटा दूर तक थी। ऐसी कुर्बानियाँ उसके लिए हुई थीं जिसने कुर्बानियाँ करनेवालों को न जाने कितने दिनों के लिए गुलाम बना लिया था। यह बलिहारी काली पल्टन की थी, गोरी पल्टन तो अन्त को थी।

महा क्षोभकर और हृदय हिला देनेवाला दृश्य तो यह था कि जो सैनिक ऐसे आहत हो गये थे कि अब अच्छा होकर लड़ने लायक न हो सकते थे, या जिन्हें शायद अच्छा भी न होता उन्हें, उनके गिड़गिड़ाते रहने पर भी, मुर्देवाली लारियों में भरकर गहरे-गहरे गड्ढों तथा झाड़ियों में घसीट कर फेंक दिया जाता था। नेताओं ने उन्हें माँग अपने अस्पतालों में भरती कर दिया।

शत्रु के हवाई जहाज आकाश में मँडरा कई रंग के पर्चे सरकारी सेना तथा जनता के बीच गिरा रहे थे। उनमें लिखा था—"हम इस देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं। यहाँ के सैनिकों को उचित है कि वे स्वतंत्र रूप से अपने देश के लिए लड़ें, या हमारी ओर आ जायँ। नहीं तो उन पर भी खतरा होगा।"

ऊपर जहाजों से बम बरस रहा था और नीचे सेनाएँ बढ़ रही थीं। सरकार अपने पैर पूरी तरह उखड़े देख अब अपने ही हाथों अपने हवाई अड्डों, तेल की टंकियों तथा बड़ी-बड़ी रक्षा की दीवालों को नष्ट-भ्रष्ट करती भागी जा रही थी। भयानक अग्निकाण्ड और विध्वंस हो रहा था।

पर्चे पा कुछ सरकारी सेनाएँ शत्रु सेना में मिलने चलीं। सरकारी सेना के एक प्रधान अधिकारी थे कर्नल नरेन्द्र। गोरी पल्टन के कप्तान ने उन सेनाओं पर,—यदि वे शीघ्र अपने स्थान पर वापिस न चली आएँ,—और उन देश-सेवकों पर जो उनका स्वागत कर रहे थे—, गोली चलाने की आज्ञा दी। कर्नल ने निर्भीक स्वर में कहा—"ये गोलियाँ अपने देश भाइयों की छातियाँ पार करने को नहीं हैं। तीन बार आदेश हुआ, तीनों बार यही उत्तर मिला। फिर वही आदेश गोरी पल्टन को दिया गया। कर्नल नरेन्द्र ने कहा—"खबरदार!" गोरी पल्टन इस खबरदार पर और तमतमा कर आदेश पालन करने चली। उसका रुख देखते ही कर्नल नरेन्द्र ने अपनी सेनाओं को काशन बोल कर उसके मुकाबले में कर दिया। कुछ देर तक दोनों सेनाओं में सनासन गोलियाँ चलती रहीं। कुछ देर बाद उनके आदेशकों से लड़ाई बंद कर दी गयी। परंतु धोखे से कर्नल नरेन्द्र कैद कर लिये गये और साथ ही उनके कुछ सैनिक भी।

× × × ×

एक घिरे हुए फौजी मैदान में कर्नल नरेन्द्र उन सैनिकों के साथ अपराधी के रूप में एक नये न्यायाधिकरण में खड़े थे, जिसके न्यायाधीश थे श्री सफदर खान। कुछ नेता योगेन्द्र के साथ अपराधियों के मुक्त करने के प्रयास में उपस्थित थे।

न्यायाधीश ने कर्नल से पूछा—"तुम्हें फाँसी के तख्ते पर चढ़ना मंजूर है कि इन देशद्रोही नेताओं तथा सैनिकों पर अपने हाथ गोली बरसाना ?"

कर्नल ने अविलंब उत्तर दिया—"नराधम! तुम्हें लज्जा नहीं आती ? चिल्लू भर पानी में नहीं डूब मरते! मुँह दिखाते हो अभी दुनिया को! फाँसी के तख्ते से तुम देशद्रोहियों को डरना चाहिए। हम देशप्रेमियों को तो वह आनन्द का झूला है।"

क्रोध से लाल हुए खान साहब कुछ कहने ही जा रहे थे कि ऊपर से एक हवाई जहाज आसमान में गोता लगा नीचे आया और कर्नल नरेन्द्र को ले ऊपर उड़ गया। विचित्र था वह जहाज! जैसे उससे कोई आवाज ही न हुई। हाँ, जब वह अति निकट आ गया तो एक धुँधला-सा प्रकाश अवश्य हो गया, जिसमें सबकी आँखें चौंधिया गयीं। किसी अस्त्र से खान साहब को

कुछ चोट भी आयी। मरे तो वे नहीं, मूर्च्छित अवश्य हो गये। चंद्रा और योगेन्द्र उनका उपचार करने लगे।

२८

सफदर खान ने कई स्थानों पर साम्प्रदायिक बलवों का अपने पक्ष में बड़ा सफल आयोजन किया। इधर देश के नेता उनसे हार्दिक सहयोग की अपील कर रहे थे, उधर वे बलवे की तैयारी में लगे हुए थे। अपने सम्प्रदायवालों को बन्दूक, छूरें तथा पिस्तौलें भी खूब खरीदवा दीं। वे अपनी शैतानी के लिये पूरी तरह लैस हो गये।

दूसरे पक्ष को अभी इसका कोई पता ही नहीं। एक तो वह अपनी उदार प्रकृति तथा भाईचारे के नाते वैसे ही अच्छे बलवाई न ठहरते, तिस पर इस बार तो पूरा धोखा भी खाया। उनके जत्थे बन आक्रमण प्रारंभ हो गये। जो जहाँ, जिस वेश में मिला सुला दिया जाने लगा। बलवाई निर्भय सड़कों पर घूमने, अपने छुरे खून से तर करने और अपनी बन्दूकों तथा तमंचों की प्यास बुझाने लगे। सरकारी सिपाही और कर्मचारी जैसे हस्तबद्ध हो गये हों और नरो-कुञ्जरो कुछ भी न जानते हों। बच्चे, जवान, बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब एक तलवार के घाट उतारे जाने लगे। घर, कोठियाँ, झोपड़ियाँ लूटी और जलायी जाने लगीं। मैजिस्ट्रेटों, कप्तानों तथा गवर्नरों के पास फोन पर फोन, तार पर तार जाने लगे, परंतु कोई उत्तर, कोई प्रबन्ध नहीं। सबको अपनी मौत मरनी पड़ी।

एक स्थान पर एक छोटे से बगीचे में पाँच से दस-बारह वर्ष तक के बच्चे खेलते हुए जा पड़े थे। बलवाई फाटक तोड़ भीतर घुस गये। बच्चे गिड़गिड़ाने लगे—"हमें क्यों मारते हो? जो कहो करें, हमारे प्राण छोड़ दो......।" उन्हें तनिक भी दया न आयी। उन्हें तरह-तरह की गालियाँ देते हुए किसीको भाला भोंक दिया, किसीको छुरा, किसीके पैर पकड़ चीर कर दो फाल कर दिया।

वे निर्दोष जननी, जन्म-भूमि, मित्रों की मण्डली तथा अपने भविष्य को भविष्य की गोद में छोड़ वह चल बसे। वह पुष्प-पराग-पुलकित उपवन रक्त-प्लावित हो गया!

एक जगह कुछ सयाने लड़के स्कूल के थे। बलवाई उन्हें गोलियाँ दे मारने बढ़े। वे बड़े खिलाड़ी और बहादुर थे। बोले—"बहादुर हो तो न्याय-युद्ध करो। लेकिन हाँ, कायरों की मौत तो हमलोग मरनेवाले नहीं। जो कुछ अपने पास है उसीसे लड़ते-लड़ते मरेंगे।"

यों कह वे शत्रुओं का सामना करने लगे। एक-एक ने चार-चार, पाँच-पाँच, छः-छः को मारा। न जाने कहाँ से ऐसी वीरता उनमें आ गयी थी! परंतु अब वे भी अपने हताहत विपक्षियों के ऊपर सोने ही जा रहे थे कि एक सशस्त्र दल उनकी सहायता करने आ पहुँचा। शेष बलवाई मार डाले गये और वे बहादुर बच गये। उन्होंने वीरों की लड़ाई लड़ी और मरते तो वीरों की मृत्यु मरते। जिस देश के बच्चे-बच्चे में ऐसी वीरता हो वही स्वर्ग है।

कितनी माताएँ जब अपने बच्चों को दूध पिला रही थीं, दूध पिलाने जा रही थीं; कितनी सुहागिनियाँ और उनके सुहाग जब शयनगृह में सुहागरात का पर्व मनाने जा रहे थे; कितने प्रेमी जब दीर्घ विप्रलंभ के पश्चात् मिलकर प्रेम के आँसुओं में नहा रहे थे; कितनी स्त्रियाँ जब बच्चों को जन्म दे रही थीं; कितने सुदीर्घ अस्वस्थता के पश्चात् स्वास्थ्यलाभ कर जब रुग्ण-शय्या से उठ रहे थे, मार डाले गये—अजान, अचानक, अपराधहीन!

ढलती हुई, ढली हुई स्त्रियों के स्तन काट-काट सड़कों पर फेंक दिये गये। कितनी उसी अवस्था में कराह कराह मरने को, अपने भाइयों तथा लड़कों की करतूति स्मरण करने को, अद्भुत पुरुषार्थ और अवर्ण्य बर्बरता देखने को छोड़ दी गयीं। कितनी मार दी गयीं। कितनी तरुणियों तथा कुमारियों को बलात्कार करते करते मार डाला और कितनी को लूट के माल की तरह निगूढ़ में छिपा रक्खा गया। न जाने कितना धन लूटा गया और न जाने कितने मकान और मनुष्य, पशु जला डाले गये।

एकाध जगह तो महिलाओं ने गये दिन की वीरांगनाओं का परिचय दिया। उन्हें बन्द कर कहा गया था—"तुम लोग अपने को कैद में न समझना। हाँ,

मुहब्बत की कैद तो है ही। नये सिरे से नयी मुहब्बत की जिन्दगी शुरू करोगी।"

उनमें कुछ ने कहा—"हमें स्वीकार है। लेकिन बलवा अभी हो ही रहा है, हमें भी तो हाथियारों से लैस रहना चाहिये।"

उन्हें खुशी से हथियार दे दिये गये। वे बिना कुछ खाये-पिये बन्द रहीं। जो उनके सामने आये, उन्हें वे समाप्त करती गयीं। अन्त में उनके प्राण भी बच गये और निकाह और नयी मुहब्बत की मौत से भी बुरी जिन्दगी न शुरू करनी पड़ी। उन्हें उनका पूर्वाश्रय फिर प्राप्त हो गया। परंतु अभी ऐसे न जानें कितने गिरोह पड़े थे, जिनका भविष्य अभी अनिश्चित और अंधकार में ही था। परंतु वह अनिश्चित तो था नहीं—अब उनकी जीवनयामिनी का विहान होनेवाला नहीं था।

दूसरा पक्ष अभी आँखें ही मीच रहा था। लेकिन अब उसने भी होश सँभाला। पर साथ ही सरकार ने भी होश सँभाल लिया; क्योंकि उसे तो आक्रमणकारियों का आक्रमण सफल बनाना था। फिर क्या था, सरकारी फौज सड़कों पर गोलियाँ बरसाने लगी। परंतु इन बलवाइयों के हृदय में जो आग स्वजनों के हत्याकाण्ड से जली थी, वह इन गोलियों की आग से कहीं अधिक गरम और उनसे रुकनेवाली न थी। वे प्राण हथेली पर ले आगे बढ़े और अपने हाथ साफ करने लगे। परंतु इस आवेश में भी उन्होंने स्त्रियों, बच्चों, रुग्णों तथा शरणागतों पर हाथ न उठाया। हत्या का बदला तो इस बार उन्होंने पूरा-पूरा चुकाया, बल्कि हताहतों की संख्या अधिक कर दी; परंतु लूट में तो बिल्कुल ही पिछड़े रहे।

नेताओं को इस पैशाचिक कुकृत्य से बड़ा क्षोभ और संताप हुआ। चन्द्रावती, योगेन्द्र तथा जितेन्द्र एक घटना स्थल पर पहुँचे। नालियाँ लहू से भरी थीं। गली-कूचे सब लाल थे। सरकारी लारियाँ मुर्दे फेंकने में व्यस्त थीं। सड़कें तब भी लाशों से पटी थीं। स्त्रियों के स्तन, छोटे-छोटे बच्चों की आँखें, कान, नाकें, पैर, सिर, धड़ आदि अवयव अब भी उन लुब्ध, उदार आँखों को बेआँख करने के लिए पड़े थे। कितने आहत भी अभी निहतों के ढेर में पड़े थे। उन्हें निकाल-निकाल इन लोगों ने अस्पतालों में

भेजा। एक जगह दो तीन बच्चे अधमरे पड़े थे। उन्हें देख वे जो मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहे थे, जीवन की कड़ियाँ देखने लगे। अपनी मृत्यु-शय्या पर हुलस कर जिस कातर दृष्टि से वे उनकी ओर देखने लगे क्या उसे लिखने में लेखनी समर्थ हो सकती है? उनका हृदय विदीर्ण हो गया। उनकी घिग्घी बँध गयी। उन्हें स्नायविक कंपन हो गया। उनके किसलय कोमल अंग रक्त में शराबोर हो गये थे; साँसें रुक-रुक आ रही थीं; आँखें ढँपी जाती थीं; उनके छोटे-छोटे हाथों में संतरों की फाँकियाँ अब भी पड़ी थीं; उनके स्निग्ध और गोरे-गोरे पीले होते हुए गालों पर मातृचुंबन के स्नेहोच्छ्वास अब भी शेष थे; उनकी जीवन शिखा विलीयमान होने में अब भी सिहर रही थी—उनके जीवन अब भी होने और न होने की क्षीण रेखा पर मचल रहे थे! प्रार्थना का यह विराट रूप, स्नेह का यह सिंधुवत् आकार, आशा का यह अर्णव अनुराग, वेदना का यह मर्मांतक विनोद देखकर क्या दनुज मनुज देव मनुज नहीं हो सकता? नहीं हो सकता तो इस संसार में न कभी सत्युग आया होगा, न आ सकता है।

मनुष्यो! अपनी जिस सभ्यता पर तुम गर्व करते हो, अपनी संस्कृति को विश्व के लिए सर्वोत्तम मानते हो, अपने जिस धर्म का डंका बजाते हो, क्या उनके लक्षण येही हैं? यदि तुम अपने को मनुज कहते हो तो दनुज कौन है? यदि तुम अपने को विचारशील, विद्वान कहते हो तो मूर्ख कौन है? महाविधे! ऐसे ही मनुष्यों की सृष्टि करनी है, तो केवल पशुओं की सृष्टि कर दो, यदि तुम इसकी कुछ कल्याण-कामना रखते हो।

नेताओं ने उन्हें गोद में लिपटा रक्त रंजित हो कहा—"आह वह कल्पनातीत नृशंसता जिसने इन निर्दोष, निरीह बच्चों पर हाथ उठाया! सर्वेश! इन्हें जीवन दो। बेटा, उसी भगवान को याद करो जिसने...। दयामय! ये जिस वेदना से कराह रहे हैं, उसे हमें दे इन्हें पीड़ामुक्त कर दो!"

उनके शरीर में अपने कपड़ों की पट्टियाँ बाँध उन्हें ले वे स्वयं अस्पताल में गये और डाक्टरों को बार-बार साग्रह सतर्क कर उन्हें अच्छी से अच्छी औषधियाँ दिलवायीं।

उन्होंने उन्हें आश्वासन दिया कि ईश्वर चाहेगा तो इन्हें अवश्य जीवन-

लाभ होगा। इन सृजक हाथों तथा इन अगाध स्नेह पूर्ण अंकों का सुस्पर्श कर वे नव जीवन न पाएँ, यह कैसे होगा ?

बच्चों ने उन गोदियों में आते ही, नहीं, उन दृष्टियों के पड़ते ही, नूतन-जीवन की नूतन ज्योति देख ली।

न जाने कितने बच्चे ऐसी ही दशा में, ऐसी ही वेदना से कराह रहे थे। यह तो एक स्थल की चर्चा है।

सरकार अपनी जाँच क्यों करती—सही सही जाँच क्यों करती ? उसने जो चाहा था वही तो हुआ। जो कुछ विपक्ष से हुआ वह उसकी अनिच्छा से ही, उसकी गोलियों की बौछारों में, मार्शल ला तथा कर्फ्यू आर्डर के बीच हुआ। उसे तो सौ की केवल दो-चार मृत्यु दिखानी थी।

नेता लोग पहले उन तरुणियों तथा कुमारियों का पता लगाने लगे जो निकाह तथा बलात्कार के लिए रक्खी गयी थीं। कहीं कहीं ऐसे गिरोह मिले जो बिना कुछ खाये-पिये सूखकर काँटा हो गये थे। कहीं ऐसे मिले जो जीने के लिए कुछ खा लिया करते। इनका उद्धार हो गया। जो निकाह के फंदे में पड़ गये थे तथा पड़ गई थीं उनकी जाँच हो रही थी। यह विज्ञप्ति कर दी गयी कि जो निकाह तथा धर्म-परिवर्तन स्वेच्छा-विरुद्ध हुये हैं सब अवैध समझे जायँगे। कट्टर समाज भी उन्हें लेने को तैयार था। लूट के माल भी बहुत मिले।

एक जगह तो एक प्रमादी एक रमणी को, जिसे उसने अपने तीन साथियों के साथ चुराया था, लूटा था, और जिसे अब धोखे से केवल अपना बनाने के लिए दूसरी जगह रख दिया था, अपने चमकीले छुरे से झुकाना चाहता था, क्योंकि उसके सब प्रलोभन व्यर्थ सिद्ध हो चुके थे।

उसे पता नहीं कि उसके पीछे गुप्तचर स्वयंसेवक उसकी बातें सुन रहे थे—

प्रमादी—मुहब्बत से तुम्हें अपनाना चाहा, लेकिन न हो सका। अब तो इस छुरे से ही काम लेना पड़ रहा है। बोलो गले लगना चाहती हो, निकाह कबूल करती हो कि मरना चाहती हो ?

तरुणी—छुरा ! निकाह ! क्या बकता जा रहा है नीच !

प्र०—जो कहता हूँ मान जाओ। ज़िन्दगी कोई चीज़ है, इसे क्यों बेकार खोती हो ?

त०—मैं तेरी बातें सुनना भी नहीं चाहती। धमकी देने आया है नराधम! मैं तो स्वयं चाहती हूँ कि मेरा रक्त असंख्य निर्दोषों के रक्त में मिल जाय। दूर भाग जा, नहीं अपने छुरे की करामात दिखा।

अब प्रमादी से न रहा गया और वह उस पर झपट पड़ा। लेकिन आगे बढ़ते ही कुछ सबल हाथों ने उसे पीछे से पकड़ लिया, जकड़ लिया और उसका छुरा हाथ से गिर गया।

× × ×

पूरी जाँच कर लेने पर नेताओं को सब बातें स्पष्ट ज्ञात हो गयीं। उन्होंने वाइसराय, प्रान्तीय गवर्नर तथा व्यवस्थापिका सभा का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर उचित प्रबंध तथा उचित दण्ड की व्यवस्था करानी चाही, पर न हो सका।

इतना होने पर भी धमकियाँ दी जाती थीं। इसके थोड़े ही दिन पश्चात् अन्य स्थानों पर भी भीषण काण्ड हुए। नेता वहाँ भी पहुँचे और घर-घर घूम लोगों को आश्वासन दिया, आहतों की सेवा-शुश्रूषा की और जो लोग बलात् अपने धर्म से हटा दूसरे धर्म की कारा में डाल दिये गये थे उन्हें फिर अपने धर्म में कर दिया। वहाँ उन्हें लम्बे समय तक रहकर मनुष्यों के योग्य वातावरण उत्पन्न करना पड़ा।

यह सब कुछ हो जाने पर एक सभा में योगेन्द्र ने कहा—"जब हम लोग पूर्ण स्वाधीनता के राजद्वार पर आ गये तो हमारे भाई जो कुछ दिनों से अपने को लीगी कहने लगे हैं, हमारा पैर पीछे खींच रहे हैं। यदि वे प्रस्तुत सरकार के धोखे में आकर ऐसा कर रहे हैं तो उन्हें समझना चाहिये कि किसी के कहने से आग में हाथ डालने से हाथ डालनेवाले ही का हाथ जलेगा। कहनेवाले का कुछ होगा तो पीछे होगा।

खेद की बात है कि वही जिसने कांग्रेस को अपने कितने अमूल्य वर्षों का सहयोग दे उसका एक अंग था, आज अपने उस समष्टि शरीर से निकल सदा के लिये अलग हो जाना चाहता है। जो सम्पूर्ण देश को स्वतंत्र करने के लिए लड़ रहा था, वह उसे परतंत्र और खण्डित करने को कटिपरिकर है। जहाँ आज संसार विश्व-संघ की ओर जा रहा है, वहाँ उसके अनुयायी अपने को एक तुच्छ फिरके के भीतर बन्द करना चाहते हैं। वे उन नेताओं को, जो सम्पूर्ण देश

की स्वतंत्रता के लिए न्याय-युद्ध करते आ रहे हैं और विश्व बन्धुत्व के अनुयायी और उन्हीं के मजहब के हैं, अपना प्रतिनिधि न मान उन्हें मानते हैं जो उन्हें अपनी तुच्छ साम्प्रदायिक चारदिवारी के भीतर बन्द कर उनके खून की नदियाँ बहा रहे हैं जो निर्दोष हैं, उनके देश-बंधु हैं। लोग अपनी आँखें खोल लें, अपनी दृष्टि विस्तृत करें।

कांग्रेस तथा संघ तो सार्वजनिक राजनैतिक एवं सर्वोन्नायक संस्थाएँ हैं। इनके अन्दर चाहे एक मजहब हो, चाहे अनेक। मजहब से उन्हें इतना ही प्रयोजन है कि एक मजहब दूसरे पर किसी तरह का अत्याचार न करे। भला मजहब से मजहब का क्या झगड़ा हो सकता है, जो पशु से मनुष्य—हैवान से इंसान बनाने को है?

आज जो लोग इतने जोरों से व्यवधान पर उद्यत हो गयी है वह यही समझती है न कि कांग्रेस के इतने वर्षों के अथक परिश्रम की—जिसमें अशेष जन-धन की आहुतियाँ हुई हैं—फल-प्राप्ति निकट है, और इस समय यदि हम अपने असहयोग और घोर विरोध से उसे निराश कर देते हैं:—सहस्रों मील से आये हुए यात्री के विरुद्ध उसके मंदिर का द्वार बन्द कर देते हैं--तो उससे जो चाहेंगे वही करा लेंगे। लेकिन इनके हाथ से चाहे कोई विश्व भर का भी साम्राज्य छीन कर इन्हें कर्तव्य विमुख करना चाहे तो भी नहीं कर सकता। हम जानते हैं कि कोई साध्य, कोई पूर्ति हमारे हाथ नहीं। हम कर्तव्य में ही उसका साफल्य भी समझते हैं। राम का भी वह सार्वभौमिक साम्राज्य न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया, रज में विलीन हो गया, परन्तु उसकी प्रजा-वत्सलता ज्यों की त्यों है। व्रज और कुरुक्षेत्र मेदिनी के न जाने किस स्तर में विपर्यस्त हो गये, परन्तु विश्वमोहिनी वंशी और गीता का स्वर आज भी कानों में गूँज रहा है। भारत तथा योरप के साम्राज्य न जाने कितनी बार उलट-पुलट नष्ट-भ्रष्ट हो गये, परंतु राणा प्रताप और नैपोलियन बोनापार्ट के अदम्य उत्साह, साहस, शौर्य तथा स्वातंत्र्य-प्रियता अशेष शताब्दियों तक मानव जाति का वैतालिक और पथ-प्रदर्शक रहेगी।"

२९

बाबा अजीत सिंह खड़े हो फूलों की ओर देख रहे थे। ये उसी क्यारी के फूल थे जिसे योगेन्द्र ने फुलवाड़ी का रूप दिया था। बाबा की सौम्य, रहस्यमयी दृष्टि मानो पुष्पों की निगूढ़ चेतना को ऊपर हुलसा-हुलसा उनको रूप रंग एवं पूत परिमल में उच्छ्वसित कर रही हो। सांध्य किरणें उन्हें चूमते-चूमते जेल की ऊँची चारदिवारी के नीचे गिर पड़ीं।

उसी समय चन्द्रावती, योगेन्द्र और जितेन्द्र ने आकर बाबा से कुछ दूर खड़े हो एक अद्भुत, दृश्य देखा: बाबा के चतुर्दिक एक अतीव पावन, प्रोज्वल ज्योति जगमगा रही थी और उसमें कभी बाबा बापू के रूप में व्यक्त हो रहे थे, कभी अपने; और उस रूप में कुछ भी असिद्ध, कुछ भी अप्राप्त, कुछ भी अपने से परे नहीं था। कैसा आश्चर्य, अलौकिक आश्चर्य था!! क्या दर्शक स्वप्न देख रहे थे, अथवा किसी कल्पना का रूप, अथवा जो देख रहे थे वही?

बाबा फूलों की ओर देख रहे थे? अरे वे अखिल जीवन का रहस्य, अखिल विश्व का वैभव देख रहे थे। जिसे ऐसी अन्तर्दृष्टि, ऐसा प्रकृति-भाषा-ज्ञान हो, वही बाबा-सा आत्म-तुष्ट हो सकता है। इस विश्व के आँगन में मचल-मचल खेलनेवाला, सिसक-सिसक रोनेवाला मानव शिशु कभी निगूढ़ निकुंज का, ऊँची मंजिलों का संगीत सुनेगा तो वह बाबा-सा चिर-तुष्ट, चिर-पुष्ट हो जायगा—स्वयं वही संगीत हो जायगा।

परंतु वह दृश्य, वह अंतरंग ऐश्वर्य जब केवल अष्ट नेत्र ही देख रहे थे, अथवा स्वल्प नेत्र ही देख सकते हैं और स्वल्प ही उस पर विश्वास भी कर सकते हैं, तो हमें बस इतना ही कहना चाहिये कि वे बाबा को देख रहे थे और बाबा फूलों को।

बाबा ने दृष्टि फेरी तो देखा कि वे तीनों विस्मय-विमुग्ध हो एक दूसरे की ओर देख रहे थे। बाबा ने पूछा—"क्यों कुशल तो है? आज ऐसे खोये हुए से क्यों हो?"

योगेन्द्र ने बाबा की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए कहा—"बाबा, हम क्या देख रहे थे ? वह दृश्य कहाँ अदृश्य हो गया ?"

तुमसे कुछ भी अदृश्य नहीं रह सकता—इतना कह बाबा मौन हो गये। परंतु उस मौन ने जिज्ञासुओं को उनकी वाणी से भी अधिक संतोष दिया।

कुछ देर बाद बाबा बोल उठे—"बेटा, देखो तारों की झिलमिलाहट में, ज्योत्स्ना के मधुर हास में छवि की छहर और आनंद की लहर है, तो क्या प्रगाढ़ तम के स्तर-स्तर में लज्जावगुंठित सुषमा की सुभग सिहर नहीं है ? सौरभित मधु-मंजरी के भार से लदे हुए रसाल में यौवन का उल्लास है, तो क्या सूने आकाश की ओर अनिमेष ताकते हुए ठूँठ में जीवन का रोमांचकारी इतिहास नहीं है ? यदि ऊषा के अनुराग और जागरण में आनंद का पुलक पर्व, जीवन का उन्मेष है, तो क्या संध्या के विराग और मधुर तंद्रा में नव जीवन विकास की समाधि नहीं है ? यदि मेघों के गर्जन में, क्रुतुंग तरंगावलियों के तुमुल रव में विराट संगीत है तो क्या पलकों के अंचल में मचलती, हरित-हरित तृणों की वरुनियों पर सिहरती, सस्मित बूँदों में मर्मस्पर्शिणी रागिनी नहीं है ?"

"हमें दिव्य दृष्टि दो बाबा।"

बाबा के दर्शनार्थ आजाद, खान तथा शेख आदि नेताओं के आने से विषय बदल गया। बाबा ने प्रसन्न हो कहा—"तुम्हें देखने की बड़ी अभिलाषा थी। आ गये बड़ा अच्छा किया। तुम्हारे कार्यों से बड़ा संतोष होता है। कोई भी परिस्थिति तुम्हें डिगा नहीं सकती।

आजाद—इन कदमों की धूल का ही प्रसाद है सब।

खान—तुम्हारे निकट आते आते हमारी उलझनें सुलझ जाया करती हैं बाबा।

शेख—कोई ऐसी मंजिल नहीं बाबा, जिसे तुम्हारे रहते हुए हम तय न कर दें।

बाबा—लेकिन इस पके फल का क्या ठिकाना बेटा ?

आ०—अभी ऐसा न कहें बाबा। तुम्हारे प्रकाश बिना अँधेरे में हमलोग भला क्या करेंगे ?

शे०—इस गुलाम देश की बेड़ी काटने के लिए कुछ दिन और रह जाओ बाबा।

खा०—स्वतंत्रता के सिंहासन पर तुम्हें बिठा न लें तो सब कुछ हुआ गया हम बेकार ही समझेंगे।

बा०—हम भी चाहते हैं बेटा, कि तुम लोगों का स्वाधीन दिवस, जिसके लिए इतनी कुर्बानियाँ की गयीं, हम भी देख लें।

चन्द्रावती—तुम क्या नहीं देख रहे हो, क्या नहीं देख सकते हो ?

आ०—अपने नेता जी (योगेन्द्र) में तुम्हारी छाया देख हमारी खुशी का ठिकाना नहीं। लेकिन इतने से अपनी छुट्टी न समझ लेना। पूर्ण प्रतिनिधित्व दिये बिना और ···।

बाबा बीच ही में मुस्कुरा उठे। वह सुस्मिति उन जीर्ण, पर अरुण, अधरों से निकल उस सफेद, सुंदर दाढ़ी और मुखारविंद को आलोकित करती हुई ऊषा की लाली सी सर्वत्र फैल गयी।

कुछ देर बाद आजाद ने पूछा—"नेता जी की योरप-यात्रा के विषय में क्या आदेश है ?"

बा०—यात्रा होने दो।

× × × ×

एक विमान योगेन्द्र और चन्द्रावती को लेकर आकाश में उड़ा और अनेक देशों के ऊपर से उस महाद्वीप में उतरा जो अपने को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों, समृद्धियों तथा सभ्यता का केन्द्र कहता है, और जहाँ का वायु-मण्डल कारखानों की चिमनियों के धूँएँ से मेघ-मण्डित-सा रहता है।

जिन लोगों को देश-निकाला हुआ था, उनकी सूची यात्रियों के पास थी। उन्हें उन लोगों से मिलना, फिर योरप के देशों की राजनैतिक, सामाजिक एवं व्यापारिक व्यवस्था का घनिष्ट परिचय प्राप्त करना था। दो विश्वव्यापी महा समर विश्व के वक्षस्थल पर जो पद-चिह्न छोड़ गये थे, वे योरप पर बहुत गहरे थे। परंतु अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ के देशों को अपनी क्षतिपूर्ति के अधिक साधन थे।

पहले पहल वे फ्रांस में गये। यहाँ की क्षति-गाथा में मित्र राष्ट्रों की ही

प्रवंचना की भूमिका थी। प्रायः सभी कारखाने, उपवन, जंक्शन, फौजी पड़ाव, संस्थाएँ और सुशिक्षित सेनाएँ गोलों और बम की वर्षा में राख हो गयी थीं।

शैलानाथ और सेन के रहने का पता यहीं फ्रांस में पेरिस राजधानी में ही था। दो छोटे-छोटे बँगले एक दूसरे से मिले हुए सड़क के किनारे उसी ओर मुख किये खड़े थे। एक बँगले के घासवाले सहन पर दो कुर्सियों पर बैठे दो व्यक्ति बातें कर रहे थे। ये वे ही शैलानाथ और सेन थे। ऐसा लगता था कि अभी न तो फ्रांस उन्हें अपना बना सका था, न वे उसे।

हमारे यात्री बँगले के सामने सड़क पर पहुँचे तो वे लोग आपस में ये बातें कर रहे थे—

शैलानाथ—देश का जो कुछ भी समाचार मिलता है वह विश्वासनीय नहीं।

सेन—उनसे कुछ न कुछ अनुमान तो अवश्य ही हो जाता है, जो उनसे अधिक विश्वास योग्य होता है शायद।

शै०—अवश्य। तो देश की परिस्थिति आप कैसी आँक रहे हैं?

से०—कांग्रेस के सामने बहुत बड़ी-बड़ी अड़चनें जान पड़ती हैं।

शै०—फिर भी सरकार कम आतंकित नहीं है।

से०—परंतु दम रहते वह देश को उसका अधिकार दे नहीं सकती, दम घुट जाने पर भले ही हाथ से निकल जाय।

शै०—इसमें क्या संदेह। इसी से जिसके सामने समष्टि का इतना बड़ा प्रश्न है वह हम व्यष्टियों की क्या सोच सकेगा?

से०—हम देश के लिए मृतक अथवा मृतकप्राय हो चुके हैं। सचमुच जिनके सामने जीवितों के इतने बड़े-बड़े प्रश्न हैं, वे हमें भूल सकते हैं।

इतने ही में चन्द्रावती और योगेंद्र उनके समीप पहुँच गये। उन्होंने—जिन्हें प्रत्येक आगंतुक को देख अपने किसी देश निवासी का ही भान होता—स्वागतपूर्वक कहा—"आप कहाँ से पधारे हैं?"

यो०—जहाँ से आप लोग।

शै०—क्या हम लोगों की···इतना कहते कहते स्मृति की स्निग्ध आर्द्रता उनके नेत्रों में छहर गयी। भैरवी गाने के लिए मिलायी हुई वीणा के स्वर में वे बोल उठे—"हमारे नेता और नेत्री जी! आज का दिन धन्य है!"

इतने में चाय आ गयी। योगेंद्र ने कहा—"चाय पिये तो हमें बहुत दिन हो गये।"

शैलानाथ बोले—"आप लोग तो योगी हैं।"

योगेंद्र ने कहा—"योगी? तब तो अवश्य पिएँगे।"

देश की व्यवस्था और कांग्रेस तथा संघ की कार्यवाहियाँ एक-एक कर वे बहुत देर तक कहते सुनते रहे। उस रात वहाँ से वे लौट न सके। उनकी परिस्थिति से नेताओं को बड़ा कष्ट हुआ। उनका प्रत्येक क्षण अपने देश का स्वप्न देखते बीत रहा था। नेताओं ने उन्हें बहुत आश्वासन दिया और कहा—"जीवन का एक एक क्षण हम आप लोगों की अभिलाषा-पूर्ति की ओर लगा रहे हैं। वह दिन धन्य होगा जब हम लोग भारत की गोदी में हिलमिल कर अपना स्वतंत्र दिवस मनायेंगे और विश्व को अपना नया संदेश सुनाएँगे।"

फ्रांस सरकार ने भी उनका स्वागत किया और भारत के प्रति अपनी सदिच्छा और सहानुभूति प्रकट की और उसकी अब तक की सफलता पर बधाई दी।

योगेंद्र ने जो कुछ कहा उसका सारांश यह है "हम इस शुभाकांक्षा तथा सहानुभूति के लिए इस देश के बहुत आभारी हैं। परंतु जहाँ तक हमारा अपना विचार है आज के विश्व की सहानुभूति निष्क्रिय है। यदि हमारी शुभेच्छा तथा सहानुभूति में सक्रियता भी होती, तो विश्व का इतिहास आज कुछ और ही होता—इस विशृंखलता तथा महा समरों के बदले—जो हमें शताब्दियों के लिए पराभूत कर गये—सुख-शांति एवं सच्चे विश्व-बंधुत्व की व्यवस्था का व्यापक प्रसार होता। इस देश में इस बात को बहुत जोर देकर कहने की आवश्यकता नहीं। यहाँ तो इसका मौखिक प्रमाण ही नहीं, साक्षात दृष्टांत भी मिल चुका है। अनैतिकता, घोर स्वार्थपरता, उद्धत, अनुदार साम्राज्यवाद, पूँजीवाद अभी न जाने क्या-क्या अनर्थ करेंगे।"

फिर उन्होंने भारत की व्यवस्था का विवरण देते हुए कहा—"क्या कोई देश भारत तथा उसकी सबल, कूटनीतिप्रवण सरकार तथा उसकी कार्यवाहियों से अपरिचित है? परंतु मौखिक सहानुभूति के अतिरिक्त उसे कोई कुछ सहारा नहीं देना चाहता। हमलोग तो उससे सफलतापूर्वक लड़ही लेंगे, परंतु प्रत्येक

देश को सक्रिय सहानुभूति के साथ एक विश्वजनीन सूत्र में बँधने के लिए तैयार हो जाना चाहिए'''।''

नेताओं ने विदेशियों का एक संघ स्थापित कर वहाँ की सरकार से उसका सीधा संबंध जोड़ पारस्परिक विनिमय एवं संगठन का सूत्रपात कर दिया। पुनः वहाँ के प्रमुख नगरों, प्राकृतिक दृश्यों तथा विध्वंसों को देखते-भालते आगे बढ़े।

जर्मनी का भ्रमण उसके शोकप्रद इतिहास का अध्ययन अथवा उसकी गाथाओं का विशाल अवलोकन था। उस समृद्धिशाली देश का भग्नावशेष धरा के पृष्ठों पर महा समरांकित वीभत्सपूर्ण महाकाव्य था।

योगेंद्र ने चारों ओर देखते हुए एक लंबी ठंढी साँस खींचकर कहा—"भाभी देखो, दूर तक देखो !"

ओह ! सचमुच समृद्धि के चटकीले, भड़कीले काव्य में वैसी सत्यानुभूति, ऊँची कल्पना एवं स्पष्ट व्यंजना नहीं मिलती जैसी विध्वंस के धुँधले महाकाव्य में। दो महा समरों ने इस महा समृद्धिशाली देश को नतशीश कर दिया। जो शक्ति इस देश ने उस तथा इस महा समर के पूर्व संचित की थी वह इतिहास ने अपनी आँखों कभी न देखा था। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों का जो केन्द्र था, जिसके कारखानों में संहारकारी विस्फोटक बम, गोले, अतल गगन की माप तथा अतल सिंधु की थाह लगानेवाले हवाई और पनडुब्बे जहाज, नाना यंत्र एवं अस्त्र-शस्त्र बन रहे थे, ढल रहे थे, वह आज धूल में मिल गया, भस्म हो गया ! जिसे विश्व को अपनी विश्व-विजय का संदेश सुनाना था; उसके भग्नावशेष सिहर-सिहर अपने विनाश की करुण कहानी कह रहे हैं। जहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिकों तथा आविष्कर्त्ताओं की आँखे विमुग्ध, विचकित और विचुंबित हुआ करतीं वहाँ और उन पर अबोध, अमर्मज्ञ पथिकों के पदाघात हो रहे हैं ! जो बड़े-बड़े स्थावरों, नगरों, दुर्गों तथा जंक्शनों को धूल-धूल कर आकाश में उड़ा दिया करते, वे स्वयं धूल हो गये और हवा के हल्के झोंके भी उन्हें उड़ा न जानें कहाँ-कहाँ विक्षिप्त कर रहे हैं।

यदि इन महा वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कारों तथा निर्माणों में हाथ लगाने के पूर्व मानवता के मानसरोवर में स्नान कर लिया तथा उन्हें भी करा दिया

होता, तो विश्व का वैभव इन भग्नावशेषों में क्यों परिणत होता ? और तभी वे जो महा संहारकारी एटम बम बना रहे हैं, महा कल्याणकारी एटम बम भी बना सकते। मानव संसार में ऐसे युद्ध, ऐसे संहार क्यों ? क्योंकि मानव सब कुछ हो गया, परन्तु मानव न रह गया।"

"आह ! मानवते ! तेरा ऐसा ह्रास ? ये भग्नाविशेष ! इस निस्तब्ध भयावह सूनेपन का भायँ-भायँ !" एक ऐसा दीर्घ ठंढा निःश्वास छोड़ चन्द्रा ने कहा, मानो उनकी चेतना उसी में समाहित हो गयी।

जर्मनी में बहुत से हिन्दुस्तानी थे जिनमें दो-तीन देश निकाले वाले भी थे। उन सबका, पहले तो नहीं, इधर एक संघ बन गया था, जिससे उन्हें वहाँ की सरकार और समाज की पर्याप्त सहानुभूति और संपर्क सुलभ था। परंतु यह महा समर के पश्चात् से ही अधिक था।

पहले वे निर्वासितों से ही मिलना चाहते थे। उनके नाम थे रामसिंह, सक्सेना, रौनक अली। सर्व प्रथम वे सक्सेना से मिले। उन्हें जैसे वैराग्य हो गया था। उनका वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-विचार सब कुछ अतीत के अनुकूल था। ऐसा लगता कि आज की दुनिया किसी दूसरी ओर चली जा रही है और वे किसी दूसरी ओर, विलोम दिशा में। वे इसे जानते थे, परंतु इसकी उन्हें कोई परवाह न थी। वे जैसे तुष्ट हो कहते रहे हों—"तुम चाहे जहाँ जाओ, मेरा पल्ला छोड़ दो।"

उनकी आध्यात्मिक एवं सात्विक निष्ठा ने नेताओं से अपनी निराली कहानी कही। उन्होंने उनसे देश का सविस्तर समाचार पूछा और सुना। कहा—"हमारा सत्युग कब आयेगा ?" वे अपने जिस काल्पनिक संसार में, जिसे वे अपना सत्य अतीत मानते, रहते, उसी में आधुनिक उछृंखल विश्व को भी परिणत देखना चाहते। नेताओं को उनसे मिल बड़ा हर्ष और उन्हें बड़ा संतोष हुआ।

वे उन्हें लेकर रामसिंह और रौनक अली के पास गये। समय का अभाव रहते हुए भी उन्हें वहाँ दो रात रहना ही पड़ा। सोने के कुछ घण्टे छोड़ प्रति समय बातें हुआ करतीं। उनकी स्त्रियाँ और बाल-बच्चे सब घर पर थे। उनका कोई ठीक समाचार भी न मिल पाता। रात में जब वे देश तथा गाँव-घर के

स्वप्न देख उठते, तो ऐसा होता कि अपने ही घर में सोकर उठ रहे हों। जैसे रजनी प्रातःकाल अपने स्वप्नों को वसुंधरा के अंचल पर बूँदों-मिस उड़ेल दिया करती है, वैसे ही वे अपनी करुण कहानी उदार नेताओं के हृदय पर ढुलका रहे थे।

वे उनके संघ में भी गये और उन्हें प्रोत्साहन, साहस, धैर्य तथा आश्वासन दिया। संघ ने उनके प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति प्रकट की। परंतु उनका अपना दुख तो भूल ही गया, जब उन लोगों ने उनकी कहानियाँ सुनीं।

उन लोगों ने भारत का स्वतन्त्र दिवस तथा नेताजी का जन्म दिवस मनाने का आयोजन किया। वहाँ की भी सरकार ने उन्हें स्वागतपूर्वक निमंत्रित किया। एक सभा में उसने गत महा समरों के अपने उद्देश्य तथा उन परिस्थितियों का विवरण दिया जो अपने पराजय का वह मूल कारण समझती थी। अपनी प्रस्तुत अवस्था-व्यवस्था भी सुना दी।

योगेन्द्र ने भारत तथा भारत सरकार की कहानी कहते हुए कहा—"आज का अशान्त युग राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं का हल चाहता है। इसके बिना व्यापक शांति असंभव है और इसके लिए विश्व के राजतन्त्रों को आँखें खोल सर्वग्राहिणी नीति का अवलंबन करना होगा। उन्हें अपने स्वार्थों को सीमित कर दूसरों को, जो उनके पैरों तले कुचले जाते रहे हैं तथा जा रहे हैं, उठाकर अपनाना होगा। आज के विज्ञान को, जो आधुनिक विश्व की सर्वश्रेष्ठ विभूति है और जिस पर वह गर्व करता है, मानवता के साथ पूर्ण सहयोग कर सृजनात्मक होना होगा। ऐसा न होने ही से अपने प्यारे आविष्कर्ता विश्व को इसने जो क्षति पहुँचाई है, वह शताब्दियों में पूरी होगी, यदि पूरी होने पायेगी।

मेरी समझ से ये महा समर, राजनैतिक तथा सामाजिक द्वंद्व संकीर्ण स्वार्थों और अक्षम, उद्दण्ड शक्तियों के ही संघर्ष हैं—बड़े-बड़े राष्ट्र जो आपस में टकरा रहे हैं वह विश्व-साम्य और विश्व-शांति के लिए नहीं, अपितु अपने स्वार्थों के लिए। इन सभी संघर्षों का मूल कारण हृदय और मस्तिष्क का असामंजस्य है। जब-जब युग अतिवाद को पहुँचा करता है, तब-तब ऐसे ही अनर्थकारी संघर्ष हुआ करते हैं। प्रथम के अतिवाद से मानव समाज इस

संसार से विरक्त, अकर्मण्य तथा तर्कहीन भले हो जाय, परंतु संहारकारी कदापि नहीं हो सकता। इनके सामंजस्य तथा संतुलन से ही व्यष्टि और समष्टि का कल्याण तथा सर्वोच्च मानव सभ्यता और संस्कृति का प्रादुर्भाव संभव है। यदि यह सामंजस्य दुःसाध्य लगे तो हृदय तथा अनुराग पक्ष को ही सबल करना श्रेयस्कर है। परंतु आज का विश्व तो मानो उसकी चिता-भस्म पर कोरी बुद्धि तथा विज्ञान का अलख जगा रहा हो। विश्व बापू का आदेश नहीं मानता—मानव मनु की मर्यादा नहीं रखता तो उसका विनाश अवश्यम्भावी है।

इसके बाद उनकी यात्रा इटली की हुई। वहाँ दो निर्वासित व्यक्ति थे—अनोखेराय और शिवभद्रम। बहुत पता लगाने पर उनका पता चला। परंतु जब वे वहाँ पहुँचे तो अनोखेराय, शिवभद्रम तथा अन्य मित्र-मण्डली से घिरे अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर रहे थे। इधर दो दिनों से अब से पाँच घण्टे पूर्व तक वे अपने देश तथा नेताओं की ही चर्चा बार-बार करते रहे। उन्होंने जब से सुना था कि हमारे नेता योरप-यात्रा कर रहे हैं, तभी से उनके हृदय में उथल-पुथल मची थी।

चन्द्रावती और योगेन्द्र भीड़ को चीर उनके पास पहुँचे। डाक्टर भी अब निराश हो उनके अन्तिम क्षण गिन रहे थे। कदाचित् उनकी चेतना अभी सजग थी। और वे उनके आने की आशा और प्रतीक्षा में थे। उनके कानों में उनके आने के शब्द पड़े और उनमें नूतन स्फूर्ति-सी आ गयी। आँखों ने खुलकर युगल मूर्तियों को देखा। वे छलक उठीं और ढँप गयीं। जिन्हें पाना था उन्हें पा उन्होंने पलक कपाट लगा लिया। क्योंकि यहाँ सब कुछ खो जाने का भय है, वे अन्तर्धान हो गयीं। न जाने कितनी आशाएँ, अभिलाषाएँ किसी नूतन देश-काल में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होने के लिए उनके साथ चली गयीं। अनादि काल से ऐसा ही होता आ रहा है और अनन्त काल तक होता रहेगा।

कुछ भी हो, परन्तु अनोखेराय ने शांति पूर्वक जीवन का पट-परिवर्तन किया; क्योंकि अंतिम क्षण उन्होंने अपने नेताओं के दर्शन किये और योगेन्द्र के अंक में ही प्राण छोड़े। उनकी अन्त्योष्टि क्रिया के पश्चात् नेताओं ने उनकी पूरी कहानी सुनी वे रहस्यपूर्ण घटनाओं का विस्तृत संग्रह संसार के लिए और अपनी

प्रेम-कहानी अपने परिवार के लिए दो बहुमूल्य वसीयतें छोड़ गये थे। पहली पुस्तक में संसार के प्रमुख राष्ट्रों की युग प्रवर्तिनी घटनाओं का विवरण राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक आधार पर अतीव आकर्षक और गंभीर रूप में दिया गया था। उसमें कांग्रेस और ब्रिटिश राज्य का इतिहास तथा 'हम और हमारा शासन' का भी गंभीर और अनुभवपूर्ण वर्णन था। उनका वह श्रम और ज्ञान बहुत श्लाघ्य तथा संसार के श्रेष्ठतम ज्ञान-भण्डार की शोभा बढ़ाने योग्य था।

दूसरी पुस्तक में देश-निर्वासन के दिन से मरने के एक दिन पहले तक की दिनचर्या थी। कोई दिन ऐसा न था जब उन्होंने अपने हृदय के नीरव निकुंज में कल्पना की रंगभूमि पर अपने स्वजनों को लाड़-प्यार न किया हो, उनके साथ बैठने, सोने-खाने-पीने में कुछ घंटे न बिताये हों। उनके अक्षर-अक्षर में मानो उनके स्नेह और आँसू ही मचलते हुए बैठे थे। उसमें उनके देश-प्रेम के रोमांचकारी वर्णन पत्रों पर छहरे हुए ओस-कणों से हृदयाकाश में अनुराग-रश्मियों द्वारा समा जाने को ठहरे हुए थे। वीर-भूमि की वीर-गाथाओं को गाते-गाते गायक ने अपने जीवन को वर्णों में बिखेर दिया था।

पुस्तकों के प्रथम के ही किसी पृष्ठ पर लिख दिया गया था—"मैं इन्हें छोड़ जाऊँ तो कोई भी प्रेमी मेरी इन तुच्छ भेंटों को जननीजन्मभूमि तथा मेरे उत्तराधिकारियों को दे दे।"

शिवभद्रम भी जो उनके साथ ही साथ रहते थे, नहीं जानते थे कि उनके मित्र ऐसी वसीयत छोड़ने को थे। प्रथम का कुछ परिचय तो था, परंतु इस रूप में नहीं।

काल के लघु-लघु विष्कंभ—दिन-रात, घड़ियाँ तथा छोटे-छोटे क्षण भी अपने अपरिमेय भार से वियुक्त के स्वजनों को पिसे डालते थे। अपना ही हृदय, अपना ही मन; अपनी ही आँखें अपने से पूछतीं—"क्या अनोखेराय चले गये ?" उत्तर में एक आह निकल जाती, एक अंधकार छा जाता, और ऐसा लगता कि अनोखेराय यहीं कहीं छिपे हैं, नहीं नहीं, यहीं अपने मित्रों तथा स्वजनों की ओर देखते हुए किसी अदृश्य, अज्ञात स्थान को चले जा रहे हैं। फिर आँखें खुल जातीं और वियोग के घोर अंधकार से भरा प्रकाश हो जाता।

शिवभद्रम के आहत हृदय को आश्वस्त करने के लिए चन्द्रावती और योगेन्द्र को कई दिन रुकना पड़ा। भावुकों पर सुख-दुख, हर्ष-विषाद जैसे बीतते हैं उसे वे ही जानते हैं, अभावुक नहीं।

आधी रात बातों में ही बीत चली। उस समय थे कौन ? चन्द्रावती, योगेन्द्र, शिवभद्रम और अदृश्य अनोखे राय तथा उनकी छाया। शिवभद्रम ने रोते रोते अपने दिवगंत मित्र की वसीयत उन्हें सौंपी और रोते-रोते उन्होंने ली।

वहाँ की सरकार ने भी उन्हें सादर निमंत्रित किया। वहाँ भी उन्होंने प्रभावपूर्ण संभाषण दिया तथा देवी जी ने भी एक मार्मिक वक्तृत्व में विश्व की विश्रृंखलता तथा उसके समन्वय की युक्ति का प्रभावोत्पादक चित्र खींचा।

एक दिन चन्द्रावती और योगेन्द्र उपत्यकाओं, निर्झरों, गुंफाओं आदि को देखते वृक्षों के झुटपुटा से प्लवनशील भावों में प्लावित हुए चले आ रहे थे। अनन्त दूरी से चन्द्र अपनी स्तिमित कांति से भूतल को आप्लावित कर रहा था। नभ की कालिंदी में चन्द्रिका की रुपहली नाव में बैठा विश्व की विरहिणी श्यामल छाया को छिपाये यह शशि कितना संवेदनशील है !

अब वे नगर के निकट आ चले थे। कारखानों का कोलाहल सुन पड़ने लगा था। बिजली के प्रकाश उस चन्द्रिका की जल-चादर के नीचे फीका होने को जगमगा रहे थे। कारखानों के धुएँ उस शुभ्र स्तिमित गगन-प्रतति में मेघों से प्रसरित हो विलीन हो जाते। जंक्शन पर रेलगाड़ियों की भकभकाहट और हरहराहट तथा मुसाफिरों का शोरगुल बड़ा अच्छा लग रहा था।

अब वे एक पार्वतीय सरिता के प्रतीर पर आ गये थे। वहाँ वे कुछ देर लोल लहरियों पर रजत-रश्मियों की क्रीड़ा का आनंद उठाने बैठ गये। चन्द्रा कुछ कहने ही जा रही थीं कि कुछ देर से ये अस्फुट स्वर सुन पड़े—"घुल-घुल··· मरने से···एक बार · जाना अच्छा है। समय का भार दुर्वह · गया। जन्मभूमि···दूर, स्वजनों से दूर ! हाय अनो । अब कैसे ! कल नेता जी भी ··। मैं आज हा···।"

वे विस्मित हो एक दूसरे की ओर देखने लगे। स्वर जैसे वे पहचानते-पहचानते भी न पहचान पाते रहे हों। वे बेचैन से हो रहे थे। तब तक फिर सुन पड़ा—"नेता जी को··· ।" वे तुरंत स्वरोद्गम की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँच

देखा कि कोई पिस्तौल की नली अपनी छाती को लगा घोड़े पर हाथ रखने ही जा रहा था। आत्महत्या पाप है ! बस ! इन शब्दों के कान में पड़ते ही वह चकपका उठा और हाथ घोड़े से हट गया।

ओह ! वह शिवभद्रम थे—अवाक्, निस्तब्ध, निराश, विलीन, परंतु अब कुछ सचेत और लज्जित भी।

उन्होंने पिस्तौल उनके हाथ से लेकर कहा—"यह क्या ? दुख से ऐसी हार ! युद्ध से भागना !

शिवभद्रम—हाँ, इस दुःख से मेरी हार है ! ऐसा दुःख सह नहीं सकता।

यो०—सह नहीं सकते, इसीलिए सहने का प्रयत्न कीजिये, सहिए। तभी आप संसार का हित कर सकेंगे। अपने को सबके साथ देखिये। जीवन से ऐसी निराशा क्यों ? आशा भी तो कीजिये। जीवन पर विश्वास कीजिये।

शि०—जीवन पर विश्वास ! जीवन पर इतना ही विश्वास है कि इसका कोई सर्वज्ञ, न्यायप्रिय, दयालु नियंता, नियामक तथा निर्णायक नहीं। सर्वत्र अराजकता-सी फैली है, चाहे जब जो भी हो सकता है।

यो०—माना। परंतु आप स्नेह के नाते ही तो ऐसा कर रहे हैं। पर स्वजनों के लिये स्नेही दुख तो सहते ही हैं। आप अनोखेराय के परिवार को, मित्रों को तथा हमें प्यार करते हैं, तो हमी लोगों के लिये जीते रहिए। अपने लिये तो सभी जीते हैं जो दूसरों के लिए, केवल दूसरों के लिए, जिएँ वे धन्य हो जीते हैं, और वे महामानव हैं, वंद्य हैं। आपको नूतन आलोक मिलेगा, तब आप बहुत कुछ देख सकेंगे। आपके विचारों में जो यह क्रांति हो गयी है वह उस आलोक का अग्रदूत है। हमें स्मरण तो करते रहिएगा न ?

शिवभद्रम की आँखों का परदा गिर गया। वे जैसे अपने आपको पाकर बोले—जीता रहूँगा, नेताजी, जीता रहूँगा। आपको स्मरण न करूँगा, तो और किसे और क्या स्मरण करूँगा।"

× × × ×

फिर आस्ट्रिया में निर्वासितों से मिल वहाँ की सरकार का भी निमंत्रण स्वीकार किया। वहाँ भी उनके भाषण हुए। एक दिन घूमते-घामते वे राजभवन के समीप से आ रहे थे। ऊँचे प्रासाद की किसी मंजिल से एक लपेटा

हुआ कागज ऐसा गिरा, मानो गिरानेवाला उन्हीं के लिए गिरा रहा हो। पर वह उनके आगे न गिर ठीक पीठ पीछे गिरा। वह कागज क्या था, किसने, किस अभिप्राय से गिराया, क्या पता ? वह एक इंच से भी कम और एक सेकंड का स्वल्प अंतर देश-काल के कितने बड़े अंतर का कारण हो सकता है, इसे तो भविष्य ही जाने।

ऐसे ही योरप के प्रायः सभी प्रदेशों की यात्रा उन्होंने की। स्विट्जरलैंड में उन सबके प्रतिनिधियों की उपस्थिति में एक महती समिति में उन्होंने विश्व की राष्ट्रीय तथा सामाजिक विशृंखलता एवं उनके सामंजस्य अथवा सुचारु व्यवस्था की योजनाओं पर ओजस्वी और सारगर्भित भाषण दिया।

पुनः अमेरिका तथा अफ्रिका की यात्रा की। इस यात्रा ने विश्व महासागर को अभिनव स्वतंत्र विचारों से तरंगायित कर एक व्यापक जाग्रति पैदा कर दी।

३०

देश में आने पर पहले वे उन निर्वासितों के स्वजनों से मिले और उन्हें उनके प्रिय वियुक्तों के संदेशे, सौगात और आश्वासन दिये। जब वे अनोखे राय के घर पहुँचे तो वहाँ उनके पत्नी-पुत्र का मार्मिक संवाद हो रहा था। मकान के सामने हरी-हरी घासों पर नीम का पेड़ था। वहीं वे बैठे थे। दिवाकर पश्चिम की उपत्यका में गिरा जा रहा था, परंतु संसार को सोने के रंग में रंगते हुये।

बेटा—माँ, बाबू जी कब तक आएँगे ? तुम यही कहा करती हो कि चिट्ठी लिखकर बुलाती हूँ।

माँ—बेटा, क्या मैं नहीं बुलाती हूँ ?

बे०—बाबू जी कैसे हैं माँ ? क्या मैंने उन्हें नहीं देखा था ? नहीं नहीं, तुम तो कहती थीं वे मुझे बहुत प्यार करते थे।

माँ—भला कोई अपने बेटे को प्यार न करेगा ?

बे०—वे हैं कैसे माँ ?

माँ—बस तुम्हारे जैसे, तुम छोटे, वे बड़े ।

बे०—बस मेरे जैसे ? मैं उतना बड़ा कब हूँगा माँ ?

माँ—बड़े जल्द ।

बे०—कितनी बार यह नीम फूल गयी, ये आम फूल गये—बाबू जी के लगाये ये सब वृक्ष—,परंतु वे नहीं आये । हम लोग तो तभी न फूलेंगे जब वे आएँगे ? है न माँ ?

बेटे की बातें सुन माँ का हृदय दोलित हो गया । वह उसे गोद में उठा चूमने लगी । वह माँ का मुख देखते हुये बोल उठा—"बाबू जी होते तो वे भी ऐसे ही मेरा प्यार करते—है न माँ ?"

माँ—हाँ बेटा, ऐसे ही ।

माँ का हृदय बाहर निकला आ रहा था ।

बे०—सुनता हूँ माँ, नेता जी वहाँ गये हैं जहाँ मेरे पिता हैं । वे आएँगे·· ···।

चन्द्रावती और योगेन्द्र जो वृक्ष की ओट से माँ-बेटे का संवाद सुन मर्माहत हो सोच रहे थे—आह, ऐसी आशा और अभिलाषा से भरे हुए माँ-बेटे को उनके पति, पिता की मृत्यु का संवाद देने को हमी अभागे थे—किसी प्रकार साहस बटोर उनके समीप चले गये ।

हाय री मानव की भोली, सुकुमार आशा, तेरे ऊपर नियति के कैसे निर्मम प्रहार होते हैं । परंतु तिस पर भी तू उसके जीवन की गाड़ी लिये चली जाती है ! तेरे अंग विभीषिकाओं के प्रखर बाणों से विद्ध हो जाते हैं, परंतु शरशय्या पर आहत पड़ी हुई भी तू उसे जीवन का शुभ संदेश देती है ।

री क्रूर नियति, जब तुझे ऐसे मर्मांतक संदेशे भेजने हों तो तू क्यों नहीं अपने से ही क्रूर संवादवाहकों को वरण कर लेती जिन्हें संसार की आहें अपनी आहें हैं; जो दूसरों के ही लिए जीते हैं, उनके हृदयों को अरिष्ट के ऐसे

अरुन्तुद अस्त्रों से क्यों विदीर्ण करती हो; उनके कोमल हाथों में ऐसी थातियाँ सौंप क्यों ज्वलित अंगारे रखती हो ?

उनके निकट पहुँचने पर माँ ने थोड़ा घूँघट घेर लिया। योगेन्द्र ने बच्चे को गोद में ले लिया। संसार को आश्रय देनेवाली उस गोदी में भला वह बच्चा क्यों असुविधा और असमंजस अनुभव करता ?

विस्मय, आशा और अभिलाषा भरे स्वर में माँ ने पूछा–"आप लोग…?"

प्रश्न को पूरा होने के पहले ही उन्होंने अपना परिचय बता दिया। फिर क्या था, माँ बेटे को ले उनके पैरों पर गिर पड़ी। उन्होंने उन्हें तुरंत उठा लिया। माँ बोली—"हमें इन चरणों की पूजा क्यों नहीं करने देते, जिन पर सारा संसार श्रद्धायुत नतमस्तक है ?"

"देवी, हम आपके सेवक हैं।"

"आप देवता और देवी हैं। इन प्रत्यक्ष देवों की पूजा हम न करें ? आप देवता नहीं तो यह संज्ञा व्यर्थ है।"

बच्चा तो नेता जी, नेता जी, कह उनसे लिपट गया और कहने लगा—"हमारे बाबू जी के यहाँ गये थे आप ? वे कब आएँगे ? हम आपको भी बाबू जी और इन देवी जी को भी माँ कहेंगे।"

"कहो बेटा, खुशी से कहो। हम भी तुम्हें वैसाही प्यार करेंगे।"

चन्द्रा और योगेन्द्र की आँखें छलछला गयीं। आँसू तुरंत ही समेट लिये। परंतु कुअवसर का सामना करने के लिए नवीन साहस संग्रह कर नेता जी ने कहा—"बेटा, यह पुस्तक लो, तुम्हारे बाबूजी ने तुम्हें पढ़ने को दी है।"

माँ के हृदय की धड़कन बढ़ती जा रही थी। उसका हृदय प्रिय के शुभ संदेश-सुधा-हित चातकी की भाँति कर्णकंठ खोले बैठा था। उसने अपने भीतर ऐसा आन्दोलन कभी न पाया था। संध्या डूबी जा रही थी और तम का गाढ़ा स्तर उसे अच्छादित करने को उतावला हो रहा था। ऐसा ही पट-परिवर्तन उस विधुरा की अंतरंग प्रकृति में भी हो रहा था। परंतु दूसरी ओर तम-ताप-हारी सुधाकर की किरणें भी फैलने लगी थीं।

योगेन्द्र ने विधुरा की ओर देख कहा—"आप अपने स्वामी का समाचार

सुनने को व्याकुल होंगी। परंतु इसके पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप मेरी बात मानेंगी।"

माँ ने कहा—"आपकी बात भला कौन न मानेगा ?"

"आप अब इन देवी जी (चंद्रावती) के तथा मेरे साथ रहें। अब आप इस संसार में इस शरीर से अपने स्वामी से न मिल सकेंगी। उनका स्वर्गवास हो गया।"

विधुरा के ऊपर वज्रपात हो गया जैसे उसके नीचे न धरती रह गयी, न ऊपर आकाश। वह प्रश्वासित क्रंदन करने लगीं। चंद्रावती उस असहाया को अपनी गोद में ले समझाने लगीं और उस सिसक सिसक कर रोते हुए बच्चे को वे सँभालने लगे। बादल के उन छोटे छोटे, किंतु अगाध जल से भरे हुए टुकड़ों ने उन क्रोड़ों को प्रचुर जल-वृष्टि से डुबा दिया।

योगेन्द्र ने कहा—"देवि ! आपके स्वामी जो कुछ आप, आपके बच्चे, देश तथा सारे संसार को दे गये हैं, वह अमर रहेगा। यहाँ इस शरीर से अमर होने आया कौन है ? परंतु जिस काया से यहाँ अमरता मिलती है उनकी वह काया अनश्वर है।"

रात भर चंद्रावती उन्हें अपनी, योगेन्द्र, सविता तथा अन्य महापुरुषों की करुण कहानियाँ कह सान्त्वना देती रहीं। जिनके दर्शनों के लिए लोग तरसा करते, वे स्वयं उन्हें इस प्रकार स्वजनों-से समझा और अपने साथ रहने का आग्रह कर रहे थे, और वे भी क्लेश ही सह रहे थे, इससे उन्हें बहुत कुछ शांति हुई।

३१

देश की राजनैतिक स्थिति में निकट पूर्व की अपेक्षा अभी कोई सुधार न हुआ। कांग्रेस लीग से ६ और ३ का संबंध जोडने को लालायित थी, परंतु वह उससे ३ और ६ की तरह मुँह फेरे रही। उसके ३ और ६ में भी वह करुण वैराग्य न था जो भगवद्‌भक्तों में संसार के प्रति हुआ करता है, अपितु वह घृणा, द्वेष तथा संहार का भाव था जो असुरों में तपस्वियों के प्रति हुआ करता है।

राज्य प्रतिनिधि वाइसराय तथा प्रजाप्रतिनिधि नेताओं से बहुत बातें हुईं, वाद विवाद हुये, परंतु सब व्यर्थ।

इस बार जो बाबा से चन्द्रावती और योगेन्द्र जितेन्द्र के साथ मिले, उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उनकी योरप-यात्रा का वर्णन उन्होंने बड़े चाव से सुना। परंतु थोड़ी ही देर बाद वे गंभीर चिंतन में मौन हो गये। ऐसा लगता मानो वे अपनी दृष्टि को सब ओर से समेट भविष्य की गाढ़ी तमिस्रा को चीर बहुत दूर देख रहे हों। बाबा तो प्रत्येक क्षण देखने की वस्तु थे; परंतु अपनी इस चिंतनशील मुद्रा में वे केवल वे ही रहते। ऐसी रहस्यमय, ऐसी प्रबोधमय, ऐसी सौम्य जैसे कोई वस्तु ही न हो।

वहाँ से आने पर जितेन्द्र अस्वस्थ हो गये। परंतु उन्होंने किसीको पता न दिया। आजकल वे एक छोटी सी झोपड़ी में एक पहाड़ी पर रह रहे थे। एक दिन, जब कुछ दिन चढ़ आया था, एक रमणी आयी। यह वही रमणी थी जो योगेन्द्र की नजरबन्दी में महीनों उनके साथ रही। जितेन्द्र के समीप खड़ी हो उसने पूछा—"तबियत आपकी कैसी है?

जितेन्द्र—अभी तो वैसी ही है। आप कौन हैं, कहाँ से आ रही हैं?

रमणी—मेरा नाम सावित्री है। कहाँ से का कोई ठिकाना नहीं है और जिसे स्वजन कहते हैं, वह मेरा कोई नहीं।

जि०--आपका नाम मैंने समाचार पत्रों में देखा है। आन्दोलन के संबंध में आपको कारावास भी हुए हैं।

सावित्री—जी हाँ।

जि०—यहाँ कैसे कृपा की ?

सा०—आपको देखने, आपकी सेवा करने।

जि०—मेरी सेवा ! मुझे तो कुछ वैसा हुआ नहीं है।

सा०—परंतु मेरे रहने से कोई हानि तो आपकी होगी न ?

जि०—हानि की कोई बात नहीं। हानि तो मनुष्य को अमनुष्य से ही संभव है। लेकिन इस तरह निष्प्रयोजन…।

सावित्री झाऊ के पेड़ की डाली पकड़े अब तक खड़ी और पत्तियों को तोड़ तोड़ उनका उत्तर देती रही। वे ज्यों ज्यों उसकी ओर देखते रहे, ज्यों ज्यों वह समय को क्षिप्त करती गयी, त्यों त्यों जैसे उनके हृदय में समाती गयी। वह वहीं रहने लगी। दवा देना, पथ्य का प्रबंध, बेस्तरे ठीक करना तथा सभी तरह की सेवाएँ, उनके मना करने पर भी, वह किया करती। उसके वेश-भूषा और सेवा में जैसे कोई सामंजस्य न हो। आज का अप-टू-डेट फैशन, प्राचीन आर्य ललनाओं की निष्ठा और आनेवाले समय का स्वागत भाव—वर्तमान, भूत और भविष्य का विचित्र सम्मिश्रण था।

जब कभी वे अधिक अस्वस्थ हो जाते तो वह रात-रात भर जागती रहती। और यह भी नहीं था कि वह उन्हें केवल प्रसन्न करने के लिए ऐसा कर रही थी। उसमें उनके प्रति हार्दिक सहानुभूति थी। उसकी विवर्ण सुवर्ण आकृति उसके मनोभावों को दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित कर दिया करती। कभी कभी जब उनकी आँखें मिल जाया करतीं तो वे एक दूसरे को पढ़ लिया करते। अब उनके आप का संबोधन अधिक संपर्क के कारण स्निग्ध और निकट तुम में परिणत हो चुका था।

एक रात वे अधिक अस्वस्थ हो गये। एक बार उन्होंने देखा कि सावित्री अंचल से अपनी आँखें पोंछ रही थी। उसने अपना इस प्रकार देखा जाना न देखा। उस रात वह सारी रात जागती रही—पल भर को भी पलकें न पड़ीं।

अस्वस्थता जब सामान्य स्थिति में आयी तो एक दिन उन्होंने कहा—मैं

तुम्हारा प्रत्युपकार कैसे कर सकूँगा सावित्री ? न रहा तो इसका प्रयास कैसे करूँगा !" उसने मुस्कुरा कर कहा—"हमारा जीवन-दर्शन तो हमारी शृंखला को अपरिमेय बतलाता है—इस जन्म-मृत्यु से पार। इस पार न सही तो उस पार।"

"सावित्री, जैसे तुम्हें समझ कर भी मैं नहीं समझ पाता। संध्या, ऊषा के सुनहले अंचल में रजनी के तारकालंकारों में मैं तुम्हें देखता हूँ, तुम्हारी कहानी सुनता हूँ। परंतु•••।"

इतना कह वे सहसा मौन हो गये, जैसे किसी स्मृति की आवृत्ति हो गई हो। इस समय उनकी मुद्रा कुछ संशय ग्रस्त-सी दीख रही थी। सावित्री ने पूछा—"क्या हो गया ? चुप क्यों हो गये ?

जितेन्द्र—एक बात पूछूँ ?

सावित्री—अवश्य ! लेकिन बिना पूछे ही उत्तर दे दूँ तो ?

जि०—शायद न दे सको।

सा०—मेरे विषय में जो नेता जी (योगेन्द्र) से सुना होगा, मैं वही हूँ।

वे विस्मित हो गये। देर बाद पूछा—"तुम जो रहस्य...।"

बात काट वह बोल उठी—वही और और कुछ भी, और एक।

× × × ×

आज योगेन्द्र अकेले बैठे अपनी कहानी लिख रहे थे ! चन्द्रावती कार्यवश कांग्रेस के दफ्तर में गयी थीं। दो दिन हो गये थे, अभी वे लौटीं न। दो घंटे रात बीत रही थी। वायु कुछ अस्तव्यस्त-सा चल रहा था। परंतु उसके वाह में एक करुण संदेश, एक मुग्ध उत्कण्ठा, स्मृति की एक मरंदमय मादकता थी।

सावित्री आ द्वार पर खड़ी हो गयी। योगेन्द्र लिखते रहे। कुछ सोचने तथा विश्राम के लिए सिर उठाया तो देखा सावित्री खड़ी थी। उसने कुछ हँसते हुए नमस्कार किया। उन्होंने कुछ विस्मित हो कहा—"ओह, सावित्री ! जैसे तुम कुछ देर से खड़ी हो। आओ बैठो।"

बैठते हुये सावित्री ने कहा—"जी हाँ।"

यो०—कैसे और कहाँ रहीं ? तुमने देश-सेवा की ओर अपने को मोड़ा है, मुझे बड़ा हर्ष है। कोई नया समाचार ?

सा०—प्रत्येक क्षण कुछ अपनी नूतनता लिये आता है, परंतु कुछ वर्ण्य नहीं है।

यो०—इन दिनों कहाँ रहीं ?

सा०—जितेन्द्र अस्वस्थ थे। मैं उनकी सेवा करती रही।

यो०—उनकी अस्वस्थता का पता न चला। अब कैसे हैं ?

सा०—बिल्कुल ठीक।

यो०—तुमने उनकी सेवा की, बड़ा अच्छा किया। देश-सेवा करते हुये तुम दोनों एक दूसरे की सेवा करते—यही मैं चाहता था।

सावित्री मुस्कुरा उठी और विकच प्रसून-सी मकरंद-भार से झुक गयी। पूछा—"देवी जी कहाँ हैं ?"

तब तक चन्द्रावती द्वार पर खड़ी दिखायी पड़ीं। वे बोले—"लो देवी जी आ गयीं।"

चन्द्रावती और सावित्री का यह प्रथम साक्षात्कार था। उसने पूछा—"सविता देवी का कुछ पता चला।"

योगेन्द्र ने कहा—"तुम रहस्यमय हो, कदाचित् कुछ जानती हो।" वह मुस्कुरा उठी।

चन्द्रा ने कहा—"तुम्हें देख मुझे अपनी देवरानी का ध्यान आ जाता है। आता होगा नेता जी को भी, कहें या न कहें। कैसे जोड़े का नाम है—सविता और सावित्री। योगेन्द्र और सावित्री मुस्कुरा उठे।

सावित्री ने देखा कि कर्मयोगियों के ऊष्म दीप्त तारुण्य को कठोर काल तथा विषम व्यवस्था ने जीर्ण-शीर्ण कर देना चाहा था, परंतु वह तपस्वी की पूत निष्ठा-सा अपना कलेवर बदल स्थिर हो गया था और उसकी अमन्द मादकता सुशीतल मोहापहारी परिमल-सी मंद-मंद प्रवाहित हो रही थी। उसने देखा कि उन सुमनों के चतुर्दिक कँटीली झाड़ियों के गुँफन और झुरमुटों के झुंझा गह्वर विस्तीर्ण हो गये थे और ऋतुओं के क्रूर ताण्डव हो रहे थे, परंतु वे हँस-हँस अपना पूत परिमल परित्यक्त कर रहे थे। वह विचारमग्न हो गयी।

"क्या सोचने लगीं सावित्री ?" चन्द्रा ने पूछा।

"कुछ नहीं बहन ! ऐसे ही। अच्छा अब तो मैं जाऊँगी।" सावित्री बोली।

"वाह री जानेवाली ! अभी तो कोई बात भी न हुई।"

३२

सविता के पिता का नाम था जैनेन्द्र। अब उनकी जीवन-यात्रा अति दुरूह हो गयी थी। बिना रोग का रोग हुआ करता। सविता उनकी एक मात्र प्यारी संतान थी। उनके पास लाखों की सम्पत्ति थी। परंतु अब वह उन्हें सुख नहीं, दुःख ही दे रही थी। उन्होंने एक ऐसे पुरुष की अवमानता की थी, जिसे अब सारा संसार श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखता था, जिसे बच्चा-बच्चा जानता था। यह उनका परम सौभाग्य होता यदि वे अपनी पुत्री को उन्हें सौंप पाये होते। इसी चिन्ता में वे घुले जा रहे थे। अनेकों बार उन्होंने अपने हृदय में कहा होगा—"सविता, तूने योगेन्द्र को अपना जीवन समर्पित कर दिया होगा, तभी मुझे शांति मिल सकेगी। मैंने तुझे उन्हें न जाने कब का दे दिया है, परंतु अवसर गँवाकर। ने रा पता भी नहीं।"

योगेन्द्र के यहाँ से विदा हो सावित्री ने मार्ग में सुना कि जैनेन्द्र कुछ अधिक अस्वस्थ हैं। यह जानना कुछ कठिन तो था नहीं, क्योंकि वे देश के प्रमुख धनियों में थे। सिनेमा संसार के तो वे मानो आदि पुरुष थे।

सावित्री को देखा तो उन्हें लगा कि सविता ही आ गयी। पर क्षण भर बाद ही उनकी उमंग बैठ गयी। पूछा—"तुम कौन हो और कैसे आयीं ?"

सा०—रास्ते में सुना आप अस्वस्थ हैं, अतः देखने और सेवा करने चली आयी।

जै०—तुम कौन हो जो मेरे ऊपर··।

सा०—मैं आपका कोई न होऊँ, परंतु मनुष्य के नाते सब कुछ हूँ और मुझे सेवा का अधिकार प्राप्त है।

अस्तु, सावित्री वहाँ रहने और उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगी। बहुत दिनों

तक सावित्री, उसका आना और उसकी सेवा—सब कुछ उन्हें पहेली-सा लगता रहा। यदि स्वार्थपूर्ण संसारी को परोपकारी तथा परमार्थी प्राणी का आचार-व्यवहार पहेली-सा न लगता तो यह तो उससे भी बड़ी पहेली होती। परंतु अंत में स्वार्थ की हार और परमार्थ की जीत हो गयी—वे उसकी सेवा पर मुग्ध हो गये।

घनिष्ठता बढ़ जाने पर उन्होंने अपनी मनोव्यथा भी उससे कह सुनायी। सुख-दुखमय इस संसार में वह प्राणी कितना अभागा है जिसकी मनोव्यथा सुननेवाला कोई न हो। जैसे भीतर-ही भीतर धुँएँ को अपने में बाँध कर सुलगनेवाली आग को जल उठने से मुक्ति मिल जाती है वैसे ही हृदय की वेदनाएँ, हृदय के उद्‌गार अपने सहृदय प्रेमी से कह देने से भार बहुत हलका हो जाता है—सचमुच दुख बँट जाता है।

सावित्री ने उन्हें बहुत सान्त्वना दी और कहा—"सविता के आप जिसके चरणों पर समर्पित करना चाहते थे, वे वहीं समार्पित हैं और, मुझे विश्वास है, वे सकुशल हैं, चाहे जहाँ हों।"

जै०—मैं नेता जी से कैसे क्षमा मागूँगा ?

सा०— सब कुछ हो जायगा।

३३

वाइसराय और सफदर खान में इस बार एक बड़ा ही भयानक परामर्श हुआ। वह परामर्श था चन्द्रावती और योगेन्द्र के आस्ट्रिया जाने और उन्हें ले जानेवाले जहाज के संबंध में। नियत समय पर जहाज सागर के विस्तीर्ण वक्ष को फर-फर चीरता हुआ चला। कितने देश, कितने किनारे, पीछे छूटने लगे। इस बार जहाज के झंडे में न वह फहर, न वह स्वच्छंदता और न उसपर ऊषा, संध्या तथा रजनी की वह रमणीयता थी। किनारा छोड़ वह अगाध जल में प्रविष्ट होता गया। वह जैसे एक नये मार्ग से जा रहा था।

बहुत दूर जाने पर टीले से टकराने या न जानें कैसे उसमें छेद हो पानी भरने लगा। संकट अतीव निकट चला आ रहा था। परंतु कर्मचारियों तथा अधिकारियों को जैसे कोई घबराहट न हो। जहाज डूबने की घटना कोई साधारण घटना तो होती नहीं। नावें सँभाली जाकर यात्री उनमें बिठाये जाने लगे, परंतु एक प्रकार के निश्चिंत भाव से। चन्द्रावती और योगेन्द्र बड़ी तत्परता से प्रस्तुत कार्य में योग दे रहे थे। कप्तान ने—यह जानकर कि ये लोग अपने परित्राण की व्यवस्था सबके अन्त में ही करेंगे—उनसे बार-बार कहा—"आप लोग भी किसी नाव में सुरक्षित हो जाइए।" परंतु उन्होंने वही उत्तर दिया जो उन्हें विश्वास था—"आप मेरी चिंता अपने ही साथ कीजिएगा।"

जो कुछ हो सकता था हो गया। कप्तान भी एक नाव पर सुरक्षित हो गये, परंतु नेताओं का अभी तक कोई प्रबंध न हो पाया।

क्यों होता? इसी के लिए तो यह षड्यंत्र रचा गया था। लेकिन ऐसा षड्यंत्र! और ऐसा षड्यंत्र उनके प्राण लेने के लिए जो असंख्य प्राणों की रक्षा के लिए अपने प्राण तिल-तिल कर तर्पण कर रहे थे!

सब सुरक्षित, केवल दो असुरक्षित—नेता और नेत्रीजी! या संभव है कुछ और यात्री भी रह गये हों। अब उन्हें कुछ ध्यान आया! नावें किनारे की ओर बढ़ने लगीं। षडयंत्री नेताओं को दुरंत दुराशा की आशा भरी दृष्टि से

देखते हुए पुकार कर कहने लगे—"अरे क्या आप लोग अभी जहाज ही पर हैं ! बार-बार कहा, लेकिन...। अब भी जल्दी कीजिये !"

वे जहाज पर रजनी के अंतिम प्रहर के, जब प्रायः सभी तारे अस्त हो गये हों, दो तारों से टिमटिमा रहे थे। परंतु उन तारों-से जिन्हें अपने डूब जाने का कोई भान न हो। प्राणों के अंतिम कंपन-सा, दीपक की अंतिम लौ-सा जहाज काँप उठा ! दो नावें जो जहाज से छूट भूल से वहीं रह गयी थीं, नीचे खिंची जाती हुई सी पानी पर डगमगा रही थीं। जहाज डूबने ही जा रहा था कि वे उन नावों को पकड़ने के लिए पानी में कूद पड़े। कूदने तक उन पर उनका अपना अधिकार था; परंतु कूद जाने पर तरंगों का अधिकार हो गया। तरंगें उन्हें न जाने किधर बहा ले चलीं। जहाज डूब गया। उसके पताके उसके डूबने के पहले ही झुक गये थे—वे पताके जिन्होंने सागर के वक्ष पर बोहित के मस्तक पर फर फर फहराते हुए न जाने कितनी यात्राएँ की थीं; मातृभूमि का हृदय सुदूर के न जाने कितने शुभ सन्देशों से हुलसाया था, वायुमण्डल को दोलित किया था। डूब गया वह पोत, डूब गये वे पताके सागर के अन्तस्तल में ! इस प्रगतिशील संसार के शोक-हर्ष के गान अब वह न सुन सकेगा, न गा सकेगा। अब वह न जाने कब सड़-गल कर—दूसरा जन्म लेकर पाताल में अथवा पृथ्वी तल पर अथवा गगन के असीम अवकाश में न जाने कैसे क्या होगा ? परंतु क्या उस विनाश समाधि में उसकी एक अपनी प्रगतिशीलता न थी ?

तरंगों के थपेड़े खाते-खाते बहुत दूर निकल जाने पर वे नावें उन्हें मिल गयीं। परंतु वे एक दूसरे से अदृश्य और अज्ञात थे। अगाध जल पर काँपती हुई दो नावें और उन पर दो यात्री जल का भयावह विस्मयोत्पादक हिल्लोल-कल्लोल देखते हुए चले जाते थे। दूर बहुत दूर जाकर उन्होंने देखा कि सागर की तुंग-तरंगें बहुत ऊपर उठ वृत्ताकार प्राचीर-सी बनाये हुए हैं। इतनी उच्छल, ऊँची तरंगें न कभी देखी थीं, न सुनी थीं। वह स्थान 'दि टेरर आफ दी शिप' (जहाजों का खतरा) के नाम से ख्यात था। वहाँ भूले से भी जहाज न जाते थे। वहाँ हर-हर, हर-हर का प्रलयकारी रव निरन्तर हुआ करता। यह नहीं था कि उन तरंगों का भाटा भी कभी दीख पड़ता रहा हो—तरंगों पर तरंगें उठ

उस ऊँचाई को अवधारित किये रहतीं। कैसे ? यह तो उसके विशेषज्ञ जानें। परंतु यहाँ के विशेषज्ञ भी तो इस अगाध विश्व का अणुमात्र ही जानते हैं और इतना ही कुछ अशेष काल तक जानते भी रहेंगे शायद। परंतु यही तो मानव जाति का गौरव है कि वह सब कुछ जानने का प्रयास करता है और जानता जा रहा है।

जहाँ बड़े-बड़े जंगी जहाज भी न जाते, वहाँ वे दो छोटी-छोटी नावें उछलती, काँपती, डगमगाती नियति के कुचक्र में पड़े हुए जीवन की भाँति चली जा रहीं थीं। कभी-कभी लहरों से उछाल दूर फेंक दी जातीं और, कभी-कभी, उसके यात्री भी उससे बाहर फेंक दिये जाते। यों उछलती, काँपती, उलटती-पुलटती वे नावें तरंग-प्राचीर के पास पहुँचीं। यात्रियों ने देखा कि उस प्राचीर के पार एक द्वीप का तट-सा था। वे तटवर्ती वृक्षों की शाखाएँ पकड़ ऊपर चढ़ गये ; तरंतु दोनों भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न स्थानों पर।

वृत्ताकार तरंग-प्राचीर से घिरा, घने जंगलों से भरा वह सचमुच एक द्वीप था जिसके बीच में एक पहाड़ी थी। परंतु उन अरिष्ट-ग्रस्त निर्वासितों को क्या पता कि वहाँ पहाड़ी है या क्या है। हाँ, इतना वे अवश्य जान गये कि हम एक द्वीप में आ गये। विस्मय की सजीव प्रतिमा-से इधर-उधर देख उन्होंने आगे बढ़ना चाहा। उसी समय संध्या की सुनहली किरणें आँसुओं की अनंत आभा पर सुस्मिति-सी फैल गयीं। पक्षी अपने नीड़ को जाने लगे। परंतु उन्हें अपना नया नीड़ ढूँढना था। फिर पटाक्षेप हुआ—अंधकार का अनंत आवरण अनंत आकाश से उतरने लगा।

उस संसार में—शेष संसार से दूर, मानव समाज से दूर—जहाँ भूल कर भी किसी के जाने की संभावना भी न थी—रहने के लिये, घुलने के लिये—सबका सुअंत देखनेवालों को घोर दुरंत देखने के लिए संयोग तथा सर्वद्रष्टा ने भेज दिया।

नेता जी इधर-उधर विस्मित-से, विक्षिप्त-से घूमने लगे। यहाँ कहाँ आ गये, कहाँ और कैसे कालक्षेप करेंगे, जीवन का कैसा अंत होगा—वे इसी ऊहापोह में विलीन थे। जीवन की समस्या छोड़ रात की समस्या में आये तो सोचा यहीं कहीं घास पर रात बिता लेंगे। परंतु फिर सोचा, अरे क्या आज की ही रात

बितानी है ? धीरे-धीरे जंगली जानवरों का बोल भी सुन पड़ने और अंधकार भी विषज्वाल सा पल-पल घना होने लगा। इसलिए सोचा कि किसी पेड़ पर ही किसी तरह रात काट लेना अच्छा होगा।

आज तक उन्हें शायद कभी पेड़ पर न चढ़ना पड़ा था। परंतु आज यह भी करना पड़ा। एक पेड़ पर चढ़ कुछ ऐसी डालियाँ ढूँढ़ने लगे जो जेलों की खड्डी के आस-पास का कुछ आराम दे सकतीं। कुछ ऊपर जा तीन डालें कुछ वैसी ही मिलीं। परंतु बीच की डाल शेष दो डालियों की अपेक्षा कुछ ऐसी ऊपर को उभड़ी हुई थी कि सोने पर शरीर के मध्य भाग को कुछ अधिक उभाड़ असुविधा देती। परंतु उससे अच्छी खड्डी दूसरी न थीं। हाँ, सिरहाने की डाल वैसी होती तो वह शय्या अधिक सुखद होती। लेकिन अब जो कुछ था वही बहुत था। उसी पर वे लंबे हो गये—उस शरीर-पंजर को प्रसरित कर दिया जो वर्षों की यातनाओं तथा तरंगों के क्रूर आघातों से चूर-चूर हो गया था।

इस जेल में पूर्व के जेलों की अपेक्षा सभी कुछ अधिक कष्टकर था, किन्तु एक विशेषाधिकार अवश्य था कि प्रकृति शत-शत विशाल, मनोरम रूपों में बन्दी का स्वागत करती रहती। उस जेल में कुछ ऐसा ही था, जहाँ से शैलराज हिमालय के तुषाराच्छादित धवल शृंग नेत्रों को अभिराम अभिनंदन देते थे।

तरंगायित उदधि के जो धवल विष्कंभ झुरमुटों तथा झुंपनों के मध्यावकाश से दृष्ट होते बड़े ही सुंदर लग रहे थे, जैसे शत-शत खण्डों में सिहरती हुई चाँदनी फैली हो। ऐसी ही हमारे विविध प्रतिबंध एक अखण्ड को नाना खण्डों में विभक्त कर देते हैं।

वायु के स्निग्ध परिमल कण तरंगों की अतीव सूक्ष्म फुही से स्तिमित हो तरु के पत्ता-पत्ता पर, हरी-हरी घासों के मसृण दलों पर छिड़के जा रहे थे। वृक्षों के तले तथा झुंपनों में असंख्य जुगनू चंचल दीपकों-से, सागर की परीरानी के शयनागार में उसके रत्नालंकारों से जगमगा रहे थे। कभी-कभी घनीभूत रसरेणु उन ज्योतिरिंगणों की आभा में विचित्र ही झलक दिखाते।

योगेन्द्र जैसे कोई स्वप्न, कोई विलक्षण फिल्म, कोई तिलिस्मी करामात, कोई जादू का खेल देख रहे हों। भूख-प्यास का तो कोई ध्यान ही न था। कभी-कभी जब आँखें झँप जातीं तो उन्हीं के स्वप्न देखने लगते। निशा के पिछले पहर में

थकावट से दो एक घड़ी नींद आ गयी। उसमें उन्होंने कुछ दूसरा ही स्वप्न देखा—जननी जन्म भूमि कैसे बंधन-मुक्त होगी, विश्व-संघ कैसे संभव होगा। आँख खुलीं तो ऐसा लगा मानो अपने ही घर में अथवा देश के किसी जेल में सोकर उठ रहे हों। परंतु घर से, अड़ोस-पड़ोस से, देश-दुनियाँ से न जाने कितनी दूर हिरामन सुग्गे की तरह अपने को सात समुन्द्र पार पाया। भोर हुआ। परंतु वे ही सुनहली किरणें, मंजु-मलय-स्पर्श आज जटिलताओंका न जाने कितना भीषण और विशाल रूप लिये चले आ रहे थे।

हाथ नीचे रक्खे, सिर कुछ ऊपर किये वह कर्मयोगी अविचल मुद्रा में ऐसा विचारविलीन था, मानो गहन निगूढ़ में अनंत चिंतना जीवन की ग्रंथियाँ सुलझा रही हो। उसके तपःखिन्न काया पंजर को उषा की रश्मियाँ विचित्र दीप्ति दे रही थीं।

नित्य कृत्य से निवृत्त हो उसी प्रथम आश्रय तरु के तले सोचने लगे कि अब की जीवनचर्या कैसी होगी। देखा तो मेरी कहानी पाकेट में पड़ी थी और फाउंटेन पेन भी। परंतु उसकी स्याही समाप्त होने पर स्याही कहाँ से आयेगी? इतने बड़े जंगल में कोई न कोई रंग तो अवश्य ही मिल जायेगा। ऐसा कर्मयोगी जीवन तो जियेगा ही, कर्म करेगा ही, आत्महत्या की शरण तो किसी भी परिस्थिति में ले नहीं सकता। वे बैठ गये और अपनी कहानी लिखने लगे।

कहानी तो लिखी कुछ देर तक, परंतु फिर क्या होगा? कुछ भोजन के लिए भी तो चाहिए। अतः आहार की टोह में जंगल में घूमने निकले। उसमें प्रायः सभी प्रकार के वृक्ष थे—समी, सागौन, शाल्मली, साल, झाऊ, इक्लिप्टस, इंगुदी आदि-आदि। खाये जानेवाले फूलों के भी वृक्ष थे, परंतु कम। कितने वृक्ष ऐसे थे जिनके फलों के विषय में वे कुछ भी न जानते थे, अर्थात् वे खाये जाते हैं, या नहीं, इसका पता नहीं।

दिन चढ़ता जाता था और वे देखते भालते चले जाते थे। कहीं-कहीं वृक्षों की छाया तंबू सी तनी थी, कहीं कहीं वृक्ष विरल थे और कहीं-कहीं नहीं थे। वृक्ष बहुधा श्रेणीबद्ध ही थे—वर्गाकार, आयताकार, वृत्ताकार आदि रूपों में, मानो प्रकृति मालिन ने अपने हाथों रच-रच वह परम रम्य अनुपम आराम लगाया हो। ऊँचे ऊँचे वृक्ष तो गगन के माप-दण्ड-से खड़े थे। वे योगी योगेन्द्र की तरह

उच्च विकास को प्राप्त हो गये थे। संसार के तुच्छ संबंध उन्हें भूमिस्थ नहीं कर सकते थे। नाना तरुओं के तारोंवाले उस वनवीणा में वायु स्पर्श से मधुर मर्मर गूँजा करता।

कहीं कहीं पर पानी के स्वच्छ सोते भी थे। एक सोता तो दूसरे ही दिन प्रथम आश्रय तरु के समीप ही मिल चुका था। वे चले जाते थे और ऐसे वृक्ष भी देखते जाते थे जिनके फल पर वे जीवन-निर्वाह कर सकते। परंतु अब तक उन्हें एक भी परिचित फलोंवाला वृक्ष न मिला। कुछ ऐसे वैसे फल जो दृष्टि में आये वे अनजाने थे और ऐसे लगते जैसे वे मनुष्यों से न खाये जाते होंगे। उन्होंने उन्हें परीक्षार्थ भी आकृष्ट नहीं किया।

एक जगह एक छोटे से काँटेदार वृक्ष में कुछ लंबे लंबे से फल हरे बैगनी रंग के दिख पड़े। उन्होंने एक फल जो पक चला था, तोड़ लिया। वह दबाते ही फूट गया। रस उसका लाली लिये हुये था। एक टुकड़ा मुँह को लगाया। जीभ ऐंठ गयी। कई बार थूँका, चश्मे के पानी से मुँह साफ किया, परंतु वह चुनचुनाहट जो उसके आस्वादन से जीभ में पैदा हो गयी थी, न मिटी। वे कुछ बेचैन-से हो वहीं बैठ गये। अचानक पाकेट में हाथ डाला। चार-पाँच किसमिस, बस चार-पाँच, मिले। उन्हें जीभ पर रख धीरे-धीरे चुभलाने लगे और उसके रस को भीतर न जाने देकर जीभ पर ही चुनचुनाते हुये स्थान पर पौढ़ाते रहे। जब रस अधिक हो जाता तो थूक देते। चुनचुनाहट कुछ कुछ कम होने लगी। आध घण्टे में वह दूर हो सकी, किसी तरह।

दुपहरी हो चली। मार्तण्ड शीश के ऊपर आ अपनी प्रखर किरणों से लंबवत् प्रहार करने लगा। वे एक सघन वृक्ष की छाया में चले गये। उस वन में छाया तो अधिकांश ऐसी सघन थी कि प्रखर आतप का प्रभुत्व मानो वहाँ कुछ था ही नहीं। वहाँ देखा कि कुछ जंगली जानवर सोते में पानी पीने चले जा रहे थे। कौन हिंस्र थे, कौन अहिंस्र, इसकी चिंता वे कहाँ तक करते? जिसके घर रहना था, उससे दूर कहाँ तक रहते। देखते-देखते उन पर गाढ़ी निद्रा का अधिकार हो गया। एक हाथ की तकिया थी और घास का मुलायम कालीन।

———

३४

योगेन्द्र अपने उसी पेड़ की डालोंवाली खड्डी से सोकर उठे। पह फट रही थी। पक्षी नीड़ में करवट बदल बाहर झाँक रहे थे। रजनी के स्वप्न पंखों में फड़क, कण्ठों में गान बन मचलने लगे। पवन पत्तों पर से जमहाई ले उठा। वे हिलने लगे। सोयी हुई तरंगें भी उठ कर कुलकुलाने लगीं। विहग कुरलने लगे। रात और दिन ने पहरा बदला। प्राची के परदे से कोई हँसा और सारा संसार केशर-किंजल्क से रँग गया।

नित्य कृत्य से निवृत्त हो वे उसी पेड़ के नीचे बैठ कुछ देर तक सोचते रहे। विशाल सुस्मृति सदन के कपाट खुल गये। वे भीतर गये। सबसे मिले, सबसे बातें कीं। उस हृदय हर्म्य में कैसे कैसे रत्न थे। प्रेम के पारस ने वहाँ के सभी धातुओं को सोना बना दिया था—दुख को सुख कर दिया था। कुछ देर में वे द्वार बंद कर उठे और घूमने चल पड़े।

आज वे वह पहाड़ी देखने जा रहे थे जो द्वीप के मध्य में स्थित थी। उसकी चोटी कहीं कहीं दूर से भी दृश्य थी। पथ में कितने सुंदर फूलों के वृक्ष मिलते जाते थे। कहीं कहीं उनके छोटे-छोटे पौधे बच्चों से खड़े थे। कहीं कहीं स्वच्छ सलिल कुण्ड ऐसे लहरा रहे थे, मानो कह रहे हों—कोई कहीं भी हो सुखी रह सकता है। कहीं कहीं भोलेभाले हिरन और हिरनियाँ बैठे जुगाली कर रही थीं। उनकी भोली आँखों ने सविता की आँखों की याद दिला सोयी हुई स्मृतियों को जगा दिया।

पास में ही फला हुआ भी एक वृक्ष था, परंतु अपरिचित। तोते, मैने और कुछ अन्य पक्षी उन फलों को कुतर कुतर खा रहे थे। कुछ हिरन भी उठे और झुकी हुई डालों से फल खाने लगे। उन्होंने सोचा ये फल मनुष्यों से भी खाये जा सकते हैं। परंतु उन्हें चखने का साहस न हुआ। फिर सोचा पशु-पक्षियों का खाद्य संभवतः मनुष्यों का प्राणघातक नहीं हो सकता। अतः कुछ फल तोड़ लिये—कुछ उन्हें खिलाने के लिए, कुछ अपने लिये।

फिर वहाँ से आगे बढ़े। आम के भी कई वृक्ष मिले, परंतु किसी में फल नहीं। कभी कभी कोयल आ उस पर कू-कू कर दिया करती। न वह मधु, न वह मञ्जरी, न वे कोंपलें, पर कोयल आती बहुधा उन्हीं पर। किसी के राज-भवन अपने खण्डहरों से तो अच्छे हो नहीं सकते। आगे हरशृंगार के कुम्हलाये हुए फूल अपने ही वृंतों के नीचे योगेन्द्र की प्रेमस्मृतियों से अस्त-व्यस्त पड़े थे। वे निशा देवी के मंदिर में इष्टदेव पर स्वतः समर्पित होते और प्रातःकाल पवन से हिलाडुला सोतों में बहा ले जाये अथवा किरणों से रसरिक्त कर दिये जाते। कौन इष्टदेव ? वही जो गगन में अनन्त शून्य है, सागर में अखिल तरलता है, वसुन्धरा की असीम उर्वरता है—और क्या नहीं है ?

धीरे-धीरे तीन पहर बीत चले। पर्वत का नीप निकट आ चला। उपत्यका बड़ी रमणीय थी। वह तुषाराद्रि मानो हिमालय का ही बेटा था। झाऊ, देवदारु तथा सभी आदि के वृक्ष उसके हरित परिधान हो रहे थे। वे पहाड़ के ऊपर चढ़ने लगे। कितने निर्झर झिर-झिर कर उस जड़ अचल की चेतना का परिचय दे रहे थे। जो तुषार अब पिघल-पिघल गिर रहे थे, वे भी प्रपातों से ही लग रहे थे।

मन्द तुषार-वाहिनियों का दृश्य बड़ाही मनोरम था। वे यात्रियों की तरह सीढ़ियों से धीरे-धीरे नीचे उतर रही थीं। मानो पावस पंडा उन्हें ऊपर ले गया, शिशिर ने ध्यान-पूजा करायी और ग्रीष्म नीचे ला रहा हो। और ऊपर जाने पर विस्तीर्ण ग्लेशियर (तुषार-राशि) मिला। वह मानो शुभ्राद्रि का मंजु मुकुर हो जिसमें वह अनिमेष अपना तरु-कुंतल-कलित मुख देखा करता है। नहीं नहीं, वह ग्लेशियर नहीं था, उस गिरि-गुफा के छत्ते में शिशिर समीर मधु-मक्षिका ने शशि-रश्मियों की मधु-सुधा चूस-चूस कर चिर काल से एकत्र कर रक्खी थी, और यह निदाघ उसे ढूँढ़ते ढूँढ़ते दूहने आ पहुँचा।

वे वहीं एक शिला पर बैठ गये और सोचने लगे—"सागर से निदाघ ने पवन यंत्र द्वारा वाष्प रूप में जल खींच आकाश में रक्खा। पावस में ये बादल बन उमड़-घुमड़ बरसने लगे। नदी नाले, ताल-तलैये, अड्डे-गड्ढे सब भर गये। फिर वे सिमट-सिमट समुद्र में चले। फिर आतप किरणों से खिंचे गये, फिर बादल बने, फिर बरसे, फिर वहीं गये—यही अशेष क्रम। आग का गोला ऊपर

जल रहा है, नीचे अनेक रूपों में जल-बुझ रहा है। मिट्टी के खिलौने बन-बिगड़ रहे हैं - ऐसे ही सब कुछ। परंतु उस जल का जल, आग की आग, वायु का वायु आदि कौन है ?"

इस तरह सोचते-सोचते संध्या हो गयी; परंतु वे न अपने विचारों से जगे, न निश्चित कर सके कि अब कहाँ जायेंगे, क्या करेंगे। कुछ देर में उठे तो अंधेरा घिरने लगा था। चाहते थे शैल-शृंग पर चले जायँ, परंतु न हो सका। वहीं सोने का प्रबंध करने लगे। पास में ही एक लंबी शिला थी। उसी पर सोना चाहा। परंतु शीत कुछ अधिक लग रही थी। इसलिए पास की कन्दरा में सूखे पत्तों का एक बिस्तरा ठीक किया। पहले शिला पर ही आसन जमाया। सोचा जब ठंढ अधिक बढ़ेगी तो कन्दरे में चला चलूँगा। तीन घण्टे पश्चात् चन्द्रोदय हुआ। अदृश्य सूत्रधार ने अंधकार का पर्दा उठा प्रकाश का छोड़ दिया। पत्तों पर, लहरों पर, समीर की सिहरों पर, तुषारों पर रश्मियों की प्रेम क्रीड़ा होने लगी। ग्लेशियरों में टिमटिमाते हुए तारों सहित नीलाकाश सागर की परीरानी के प्रतिबिम्ब-सा झलक रहा था।

योगेन्द्र ने सोचा—"प्रेम का भी रहस्य कैसा है—का भी—ओह ! अरे सारा रहस्य प्रेम का ही है कि और कुछ ? कहाँ वे किरणें, कहाँ ये लहरें ! प्रेम के ही रहस्य में सारे रहस्य हैं—जीवन के समग्र संघर्ष, समग्र विनिमय, समग्र उत्थान-पतन उसमें ही हो रहे हैं, जैसे अनंत आकाश में आँधी, ओले, पानी, विस्फोट, अंधकार, प्रकाश, सर्दी-गर्मी—सब कुछ हुआ करता है। परंतु उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

रात कई घण्टे बीत गयी, परंतु उन्हें अभी तंद्रा भी न आयी। सर्दी कुछ अधिक पड़ने लगी। यद्यपि उसमें अभी आनंद का ही पुलक स्पर्श था, परंतु निराहार रहने के कारण उन्हें उससे अधिक प्रतीत होती थी। वे उठकर अपने दूसरे बिस्तरे पर चले गये। वहाँ ठीक रहा। कुछ देर सोचते रहे। फिर एक क्षीण निद्रा ने उनपर अपना अधिकार कर लिया।

प्रातःकाल शृंग पर चढ़कर देखा कि वहाँ अतीव सुंदर और विस्तृत समनु था। मध्य भाग में विशाल मंदिर-सा एक निर्माण था। परंतु वह प्रकृति की ही रचना थी, भीतर चाहे जिसकी हो। थोड़ा इधर-उधर देख वे उसी गुफा में—

मंदिर में गये। उसका धरातल बहुत ही सुंदर और सुचौरस था। मध्य भाग में भगवान गौतम बुद्ध की अतीव मनोज्ञ प्रतिमा थी। वे अचल समाधि लगाये हुए बैठे थे। दोनों हाथ कानों के सामने तक आ सामने को खुले हुए थे, अँगुलियाँ ऊपर को उठी हुई थीं। वहाँ का सम्पूर्ण वातावरण निर्वाणमय एवं प्रशांत था।

कर्मयोगी वहीं बैठ गया और अपने को उसी अवस्था में ध्यानावस्थित पाया। देर बाद उठकर देखा कि मंदिर की दीवारों पर भी सुंदर चित्रकारी थी। बोध-वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ की समाधि लगी थी। विश्व के विविध प्रलोभन एक संगठित सेना में उन्हें तपोभ्रष्ट करना चाहते थे; परंतु समाधिस्थ ने अपनी अडिग आत्मनिष्ठा से उन्हें पूर्ण पराजित कर दिया। एक स्थान पर राजपुत्र गौतम अपने राजभवन से अपनी प्रियतमा यशोधरा को सोते छोड़ विदा हो रहे थे। माँ के ही पास दो बच्चे भी सो रहे थे, जिन्हें वे करुण दृष्टि से देख रहे थे। एक चित्र था, ज्ञान और शांति प्राप्त करलेने पर उनके राजभवन में लौट पिता-माता तथा प्रियतमा आदि से मिलने का।

वहाँ योगेन्द्र को कई घण्टे लग गये। वहाँ से निकल बाहर घूमने लगे। देखा उस पट पर वे ही वृक्ष थे जो नीचे। परंतु वन का बहुत-सा भाग अभी अनदेखा था, जिसमें बहुत कुछ आशा की जा सकती थी। उस तुंग शृंग से सागर का दृश्य अतीव विशाल, सुंदर, पूत भयोत्पादक, उल्लासवर्द्धक तथा विस्मयकर था।

कर्मयोगी की अनशन-साधना न होती तो अब तक उसके प्राण-पखेरू उड़ गये होते। एक दिन स्मनु के ऊपर एक सुंदर फलोंवाला वृक्ष मिला, अब उन्हें फल चखने में अधिक भय नहीं लगता था, क्योंकि यों ही भूखों मरने से तो भूख बुझाने का कुछ उद्योग करके मरना अच्छा समझा। अतः कुछ फल तोड़ उन्हें चखने लगे। वे कुछ छुहाड़े, कुछ आम और कुछ बेल के से मीठे थे। खूब खाया पेट भर। तुष्टि तो हुई, परंतु आध ही घण्टे पश्चात् कुछ अनमने से होने लगे। फिर ऊँघने-से लगे—एक नशा-सा होने लगा। वहीं मंदिर में जा लंबे हो गये। जैसे हलका-सा ज्वर भी आ गया हो। कभी कुछ देर के लिए सचेत हो जाते, परंतु फिर ज्यों के त्यों। तब पलकें उघर जातीं, नहीं तो लगी ही रहतीं। थोड़ी ही देर बाद कुंभकर्णी निद्रा ने आ घेरा।

एक महीने से ऊपर इस अवस्था में बीत गया, तब मादक उतरा, आँखें खुलीं। कुछ देर में उठ बैठे। परंतु अभी पूरी चेतना न आयी थी। सारे दृश्य, सारे विचार धुंध से, भ्रमित-से, लग रहे थे। कुछ देर में उठकर घूमने लगे। धुंध और भ्रम धीरे-धीरे दूर होने लगा।

वे फल जो पहली बार चखने के लिए तोड़कर रख छोड़ा था, अब तक न चखे जा सके थे। उस पहाड़ी तथा उसपर के मन्दिर को देखने में वे ऐसे भूल गये थे कि भूख-प्यास का ध्यान ही न था। अब उसका ध्यान आया। परंतु जो फल तोड़कर रक्खे थे वे अब सूख चले थे। अतः उसकी टोह में वे स्मतु के ऊपर ही इधर उधर घूमने लगे। अब उनकी शक्ति का अतीव ह्रास हो चला था। कुछ दूर जा देखा कि एक वृक्ष के नीचे कुछ हिरन बैठे थे। उन्हें देखते ही उन्हें आशा हो आयी कि हो न हो वे वृक्ष यहाँ भी हों। सचमुच वह वृक्ष उन्हीं फलोंवाला वृक्ष था जिससे फल तोड़ रक्खे थे। हिरन फल खा बैठे थे। नीचे की डालियों में अब फल न थे। ऊपर चढ़े बिना फल नहीं मिल सकते थे। उनमें ऊपर चढ़ने की पर्याप्त शक्ति न थी—पर्याप्त शक्ति तो अब चलने-फिरने की भी न थी—, फिर भी वे पेड़ पर चढ़ गये और बहुत से फल तोड़े। उतरते समय, निर्बलता ही के कारण, डाली हाथ से छूट गयी और वे खर खर कर नीचे आ गये। अंग-भंग तो नहीं हुआ, परंतु चोट कड़ी आयी। अचेत हो गये। जिसकी साधारण-सी अस्वस्थता सुन असंख्यों की छाती धड़क जाती, जिसे वे अपनी आयु भी दे सकते थे—यदि संभव होता-जो सभी दलितों, पतितों, पीड़ितों को उठा रहा था, उनका उपचार कर रहा था, देश की नौका की पतवार लिये हुए था, विश्व-कल्याण की कामना से प्रेरित हो विश्व-बंधुत्व की योजना में संलग्न था—उसे आज कोई उठानेवाला नहीं, कोई कुछ पूछनेवाला भी नहीं, उसकी कल्याण-कामना करनेवाला नहीं। हाँ, जो पशु-पक्षी वहाँ थे वे अवश्य ही कुछ दुखित से दिख रहे थे—अपना कुछ ऐसा ही विश्वास है। यों तो सभी हिरन करुण कातर दृष्टि से खड़े थे, परंतु एक तो उनका सिर सूँघ रहा था।

वे देर बाद जगे। किसी तरह उठकर बैठे। पँसली में करक हो रही थी। कोई भी तो होता जो उनसे पूछता—"कहाँ चोट है और कैसी?" क्या इस अभाव की करक उस चोट की करक से अधिक नहीं होती—क्या हृदय की चोट

शरीर की चोट से अधिक सालनेवाली नहीं होती ? क्या ईश्वर की निर्ममता का भाव मानव निर्ममता से अधिक मर्मांतक नहीं होता ? कोई महात्मा इसका अनुभव न करे, यह दूसरी बात है ।

३५

कोई बात कितने पर्दे में भी की जाय, परंतु, कभी न कभी, उसका पता चल ही जाता है—समय कभी न कभी अपने अंतराल से गुप्त से गुप्त घटना को भी उछाल ही देता है । वाइसराय के उस दाढ़ीवाले अर्दली ने वाइसराय, सफदर खान तथा जहाज के कप्तान को परामर्श करते देखा था, परंतु सुना कुछ भी न था । परंतु जहाज से बचे हुए कुछ यात्रियों ने अपनी आँखों देखी घटना कही तो उसे क्या, कितनों को उस षड्यंत्र का आभास मिल गया । यह बात देश भर में फैल गयी ।

उस अर्दली ने उनके गुप्त परामर्श तथा जहाज की घटना के विवरण के छपे हुए पैंफ्लेट दूर दूर तक गुप्त रूप से वितरित करा दिये । सारे देश पर कुहरा सा छा गया । बहुत बड़ी सनसनी फैल गयी । कांग्रेस तथा सरकार दोनों ही अपनी अपनी ओर से स्थिति को अपने वश में करने का विकट प्रयास करने लगीं ।

जितेन्द्र आजाद और शेख आदि नेता आज जब बाबा से मिलने जा रहे थे तो मधुकर जी को भी उसी जेल के रास्ते पर देखा । निकट आ पूछा—"कहिए मधुकर जी, आप···।"

उन्होंने कहा—"बाबा के दर्शन किये बहुत दिन हो गये थे । हाँ, यह नेता और नेत्री जी की घटना···? क्या मेरी कविता इन आँखों से ओझल हो केवल कल्पना की आँखों से देखने को रह गयी ?"

जितेन्द्र बोले—होनहार तो होकर ही रहता है न । कुछ भी हो, हमें उनके उद्येश्यों पर तो चलना ही चाहिए, अंतिम दम तक लड़ते रहना चाहिए ।"

आजाद ने कहा—"आप कोई बहुत बड़ी चीज लिख रहे थे। नेता जी इसकी चर्चा किया करते।"

मधुकर जी बोले—"हाँ, उसके लिए अब भी मुझे उनसे प्रेरणा मिला करती है।"

दिनमान अपनी चूड़ांत सीमा से नीचे ढल चुका था। ताप उसमें था, परंतु सरकार की शक्ति के समान ही क्षीण होता हुआ-सा। जब वे लोग जेल के फाटक के भीतर पहुँचे तो किरणें विनम्र हो चली थीं, जैसे कोई अप्रिय भी जाने के समय कुछ प्रिय लगने लगता है।

बाबा एक सद्य सिक्त सुमन क्यारी में खड़े फूलों को देख रहे थे। वे पलकें उघार रहे थे। ऐसा लगता मानो बाबा के ही दृष्टि-पात से उनकी आँखें खुल रही हों, उनकी चेतना जाग रही हो। उस योगेन्द्र की बनायी हुई क्यारी में आ वे अपने योगेन्द्र को पा लेते।

अभिवादन तथा कुशल-क्षेम के पश्चात् लोग वहीं बैठ गये। बाबा बोले—"एक दिन बहुत से पैंफ्लेट यहाँ भी मिले। क्या ऐसा ही हुआ, जो होना न चाहिए?" इतना कह वे मौन हो गये। यह तो उनकी समाधि थी न। उनकी वह मुद्रा उषा-सान्ध्य एवं शारदीय शशि किरणों से भी सुशीतल और सुंदर, भविष्य से भी रहस्यमय एवं शुभ आशा से भी अधिक आश्वासनप्रद थी। देर तक वे उसमें समाधिस्थ रहे और वे उनमें (बाबा में)। फिर देर तक बातें होती रहीं। मधुकर जी से उनके ग्रंथ के विषय में बहुत-सी बातें पूछीं और उन्हें प्रोत्साहन दिया।

× × × ×

जितेन्द्र कहीं से पैदल लौट रहे थे। मार्ग भूल एक ऐसे विजन वन के छोर में प्रविष्ट हो गये जहाँ किसी पगडंडी का निशान भी नहीं था। रात हो चली थी। वन की कँटीली झाड़ियाँ भी अपने फूलों के मनोमोहक मकरंद से वह सूना वातावरण प्रपूरित किये थीं। ऐसा लगता इन्हें ऐसा परिमल मिला कहाँ। ऐसे ही स्थानों पर तो कवि की हृत्तंत्री से अयास ये स्वर मुखरित हो गये होंगे—

Full many a gem of purest ray serene,
The dark unfathomed caves of ocean wear;
Full many a flower is born to blush unseen...

(पुनीततम शांत कांति के अनेक रत्न सागर की अगाध अंध गहराई में भरे हैं; बहुत से फूल अनदेखे खिलने को उगते हैं…)

आगे जाने पर कोई झुरमुट के समीप बैठा-सा जान पड़ा। ध्यान देने पर ज्ञात हुआ कि वह कोई स्त्री है और फूलों को चुन-चुन माला पिरो रही है। दो एक फूल चुन लेती तो दो एक बूँद आँसू उसकी आँखों से टपक पड़ते, मानो उनकी भी माला कोई अदृश्य हो पिरो रहा हो।

तुम कौन यहाँ अकेली रात को—इन शब्दों से चौंककर उसने पीछे देखा और बोल उठी—"आप! आप भी तो अकेले हैं और इतनी रात को।"

"हम आप बराबर ?"

"बराबर तो कोई नहीं।"

"यह माला किसके लिये पिरो रही हो; वही तुम्हारे आँसुओं की माला पिरो रहा है कि और कोई ?"

"माला! क्या बताऊँ ?"

"सावित्री!"

दोनों वहाँ से एक करुण कहानी कहते-सुनते आगे बढ़े। अब वे एक नदी के किनारे से चल रहे थे। थोड़ी ही दूर गये होंगे कि किसी के डूबने का-सा शब्द सुनायी पड़ा। वे ठमक गये। तब तक सुना—"हाय! ये प्राण…! उनका माथा ठनक गया। वे तट की ओर लपके। देखा किसी की अलकें पानी के ऊपर लहरा रही थीं। वे झट पानी में कूद पड़े। डूबनेवाला पानी के ऊपर चला आया। वह एक स्त्री थी और गोद में एक बालक। बालक जोर से रो उठा। उन्होंने उन्हें पकड़ लिया। वह बोली—"आपलोग कौन हैं जो हमें मरकर जीने से रोकते हैं ?" उसके स्वर में दृढ़ता थी तथा लज्जा, संकोच का नितांत अभाव था। वह इस आत्म-संहार में आत्म-रक्षा देख रही थी।

हाय रे संसार! तेरा जीवन मरने में हो।

उन्होंने कहा—"तुम कौन व्यथा हो शुभे! जो आत्म-संहार में आत्म-

सृजन देख रही हो और इस होनहार बालक के साथ ? बाहर चलो और अपनी कहानी तो हमें सुना दो।"

सब लोग ऊपर गये। बालक ने अभी दो ही चार घोंट पानी पिया था। वह स्त्री बोली—"हमें डूब जाने दीजिए शांति पाने के लिये। अरे हम यहाँ चली आयीं पापी प्राणों के लोभ में! आपकी हो चुकी। अब जाने दीजिए। अब जाने दीजिये।"

—यों शांति मिल भी जाय तो क्या यही उचित है कि अपनी एक की शांति के लिये अनेकों की अशांति का कारण हो जाओ ?

—हमारे पीछे रोनेवाला कोई नहीं है। मैं अभागिनी और यह अभागा बालक। हमने वह वस्तु खोयी है जिसे खोकर कोई भी जिवित नहीं रह सकता।

—तुम कौन हो, तुम्हारी खोयी हुयी अमूल्य निधि क्या है ? बता दो, जल्द बता दो।

वह रोने लगी। वह बालक रोने लगा। उन्होंने उन्हें सान्त्वना देते हुये उनके आँसू पोंछे। उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो उनकी खोयी हुयी निधि मिल गयी। स्त्री बोली—"आप और ये...?"

—मेरा नाम जितेन्द्र और इनका सावित्री है।

—ओह ! हमारे नेता !

वे उनके पैरों पर गिर पड़े। उन्होंने उन्हें उठाकर पूछा—"तुम अपना परिचय बताओ।" बालक ने कहा—"मेरे पिता का नाम अनोखे राय..." इतना कहते-कहते उसकी घिग्घी बँध गयी। बालक को अपने अंक में लिपटाते हुये वे बोल उठे—"समझ गया। मैं तुम्हीं से मिलने आ रहा था। तुम कहती हो, हमारे पीछे रोनेवाला कोई नहीं।"

"स्वामी को खोकर नेता और नेत्री जी के रूप में जो आश्रय हमें मिला, उसे खोकर जीना क्या यही उचित है ? न जाने यह देश कैसे जीता है ?"

सावित्री ने कहा—"बहन ! हम सभी मरकर जीते हैं। देश विदेश हो गया है। आओ हम दूसरों के लिये जिएँ। जिन्हें खोकर सब कुछ खो गया, उनका ही यह आदेश है, उपदेश है कि जो कुछ भी आये उसे सहते हुये, प्राणिमात्र के लिये जियो और उत्साहपूर्वक अपना कर्तव्य करते जाओ।"

"और अभी हम उनकी आशा भी क्यों छोड़ें ? आत्महत्या की बात फिर कभी न सोचना। तुम्हारा भार हमारे ऊपर है, नहीं, नहीं हम सबका भार उसके ऊपर है जो दिन-रात करता है, सुख-दुख देता है।" जितेन्द्र ने कहा। फिर वहाँ से सब लोग साथ ही घर को चले।

× × × ×

इस समय नेता और नेत्री जी के चित्र बड़े जोरों से बिक तथा निःशुल्क वितरित किये जा रहे थे। जनता की श्रद्धा और स्नेह कांग्रेस तथा संघ के प्रति पहले से भी अधिक हो गया। इतना ही नहीं, उसके उत्सर्ग तथा त्याग की भावना में जैसे एकनिष्ठ सक्रियता आ जाय। अखिल देश में बड़ी-बड़ी हड़तालें होने लगीं। सरकार को कड़ी चुनौती दी जाने लगी। ऐसी बड़ी उत्तेजना फैली कि सरकार दहल गयी। विप्रलंभजन्य शोक ने विचित्र सचेष्टता, विचित्र साहस, विचित्र शक्ति पैदा कर दी।

नेताओं तथा राष्ट्र प्रतिनिधियों में बहुत बातें हुयीं। नेताओं ने यह तो कहा कि प्रस्तुत घटना-संबंधी सर्वसाधारण के विश्वास को हम अपना विश्वास नहीं कहते; परंतु उसने यह स्पष्ट कर दिया कि अब हम राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध करने में कोई कसर न उठा रक्खेंगे। उन्होंने यह भी कह दिया कि शत्रु ब्रिटिश सिविल सर्जन ने भारत के कई खतरनाक आपरेशन किये; परंतु उसका शरीर कुछ स्वस्थ-सा ही रहा। अब उसने जो लीग का ऐसा फोड़ा पैदा कर दिया, जो कहता है कि शरीर से पैर न अलग कर दिये जायँगे तो सारा शरीर नष्ट हो जायगा, यह इसके काले कारनामे का अमर संस्मरण रहेगा।

३६

दिन के ताप में सारा जगत जलता रहा, जैसे विरह की भट्ठी में हृदय और लोहार की भट्ठी में लोहा। आकाश की इतनी बड़ी भट्ठी की ज्वाला जिसे लोहित मार्त्तण्ड अपनी किरणों की धौंकनी से धौंक रहा हो, कितनी प्रखर न होगी।

कोई-कोई कहते हैं—"नहीं, यह भट्ठी वट्ठी नहीं, मुनिवर निदाघ की पञ्चाग्नि है जिसमें वे अपना तन-मन तपाया करते हैं।"

कोई-कोई कहते हैं—"नहीं, यह युगप्रवर्तिनी क्रांति की ज्वाला है।"

उन लोगों का, जो वैज्ञानिकों को कुछ चिढ़ाया करते हैं और अपने को उनका दादा कहते हैं, कहना है—"यह एटम बम का दादा है जो जलाता भी है और जिलाता भी, जो कभी बुझ नहीं सकता और जिसे उसकी कोई वीन देख भी नहीं सकती।"

खैर, वह कुछ भी हो, लेकिन इस समय सबको जला रहा था। रेल की पटरियाँ, रेल गाड़ियाँ, स्टेशन सब में आग सी लगी थी, सब जल रहे थे। पार्कों की हरी-हरी घासें, फूलों की पँखुड़ियाँ, कोमल-कोमल पत्ते सब झुलस रहे थे। भूमि, भूधर सब भभक रहे थे। नदा-नालों का क्या, सागर का भी जल जल रहा था।

जीवन में कितनी विषमता है? कोई पथ में, कोई खेतों में झुलस रहा और कोई अट्टालिकाओं में, बड़े-बड़े ह्वाइट हालों में खस की टट्टियों से ठंढे हुए बिजली के पंखों की हवा में हुलस रहा होगा। परंतु अब धीरे-धीरे संध्या आ चली। वायु के उष्ण निःश्वासों में मंजु मृदुता आ गयी। परंतु एकाध बार वे लपटें आ-सी जाती हैं, जैसे विस्मृति में स्मृति के एकाध झोंके।

लोहित वर्ण गगन स्वर्णवर्ण हो गया। सुखांत नाटक में नेपथ्य गृह से जैसे सुंदर सुंदर अभिनेता सजधज और हुलस कर निकलते और स्टेज पर अपना अभिनय कर दर्शकों को मुग्ध करने लगते हैं, वैसे ही गगन के अछोर छोर से

मधुर समीरों की सरस हिलोरें चल अपने सुस्पर्श से तन और मन को पुलकाने लगीं। उनकी मृदुता बढ़ती ही गयी। गगन-निकुंज में झुटपुटा-सा था, पर अब वहाँ भी उजेला होने लगा।

सावित्री टहलते टहलते समुद्र के किनारे चली गयी स्निग्ध वायु की स्तिमित हिलोरें वहाँ अत्यधिक पुलकों से भरी थीं। उसने जैसे किसी शिशु-रोदन का स्वर सुना। वह प्रतीर की ओर चल पड़ी। निकट जा देखा सचमुच एक छोटा-सा बच्चा पड़ा रो रहा था। लहरें उसके पैरों को ललचा ललचा चूम जातीं। वे उसे रत्नाकर के गर्भ में ले जाने को आतुर हो रही थीं मानो। उसने उसे गोद में उठा लिया। अरे वह कितना सुंदर होनहार शिशु था। सावित्री ने अपनी आँखों ऐसा दूसरा शिशु कभी न देखा था। उससे अधिक सुंदर शिशु की कोई कल्पना करेगा और उस पर दृढ़ रहेगा, इसमें संदेह है।

उस गोद में जा मानो वह माँ की ही गोद में पहुँच गया। वह उसे चूमने लगी, वह उसे देखने लगा। केवल माँ देवी है। केवल शिशु परमहंस है। यह किसका शिशु है, यह कैसे आया—आदि बातों के ऊहापोह में शिशु-चुंबन का पूरा आनंद वह नहीं उठा पाती थी। देर तक खड़ी रही, परंतु उसे ढूँढ़ता वहाँ कोई न आया। उसका विस्मय, विषाद और विक्षोभ बढ़ने लगा। कुछ देर और रुकने के बाद शिशु को ले वह लौट चली। विक्टोरिया पार्क में आ एक जगह हरी-भरी घासों पर बैठ उसे प्यार करने लगी। उन हरी-भरी दूबों, कोमल कोमल किसलयों सा वह भी हरा-भरा कोमल और सुंदर था। उसने देखा कि उसकी होनहारता से जो सुगंध आ रही थी वह उन फूलों की भी सुगंध से संचरणशीला और व्यामोहहारिणी थी। उसे चूम कर वह बोली—"मेरे लाल! तुमने मुझे माँ मान लिया और मैंने तुम्हें अपना आत्मज। मैं तुम्हें पालूँगी हृदयोच्छ्वासों से, प्राणोपहारों से। परंतु वह माँ जिसके अंचल को सूना कर दिया, जिसके हृदयस्रोत को सुखा दिया, कैसे जीती होगी, कैसे अपनी ठंढी साँसों का सग्भार संवहन करती होगी? उसने अवश्य कहीं प्राणोत्सर्ग कर दिया होगा। नहीं तो करने जा रही होगी।"

कोई पास की सड़क से बड़ी तेजी से जा रहा था। उसने उसके कुछ शब्द

सुन लिये। वह एकाएक रुक कुछ सोचने लगा। तब तक फिर कुछ सुन पड़ा। वह उसी ओर बढ़ा। पास जाकर कहा—"अरे सावित्री !"

शिशु स्नेह में विभोर सावित्री चौंककर बोली—"तुम !"

"हाँ, मैं ! यह बच्चा तुम्हारा है ?"

हलकी लज्जा के रंग में रँगी हुई—जो शालीन गुलाब की कली का-सा होता है—वह बोली—"तुम नहीं जानते ?"

फिर सावित्री ने सारी कहानी कह सुनायी। जितेन्द्र ने शिशु को गोद में ले चुंबन लेते हुए कहा—"भगवान जिला देगा तो यह लाल विश्व का लाल होगा। मुझे ऐसा ही विश्वास होता है सावित्री ! एक विज्ञप्ति करानी होगी। लेकिन इसका माता-पिता कौन नहीं होना चाहेगा ? ठीक पता न चला तो हमी लोग इसका लालन-पालन करेंगे।"

कुछ देर मौन रह वे फिर बोले—"तुम-सी ही कोई इसकी माँ होगी।"

"लेकिन इसका पिता तुम-सा न होगा।"

जितेन्द्र ने उसका चुंबन लेते हुये कहा—"अच्छा अब चल देना चाहिये। इसी शहर में नहीं, कई शहरों में साम्प्रदायिक दंगे हो चले हैं। सुना नहीं ?"

३७

योगेन्द्र को उन फलों के खाने से कुछ शक्ति मिली। अब यह आशा हो गयी कि उन पर जीवन के कुछ दिन व्यतीत हो सकेंगे। उन्हीं फलों पर, कभी पहाड़ी के ऊपर और कभी नीचे, रहने लगे। उन रंगवाले फलों की स्याही से अपनी कहानी भी लिखते। कोई पुस्तक—मानव लिखित पुस्तक—पढ़ने को नहीं थी, परंतु महा कलाकार की वह विशाल कृति—प्रकृति वाङ्मय—अवश्य था।

ताप अपनी चूड़ांत सीमा को पहुँच रहा था। अब आकाश का रंग बदला। उसकी मौन, नग्न निराशा आँधी से धूल-धूसरित अर्थात उर्मिल होने लगी—क्षुब्ध सूनापन क्रांति में परिणत होने लगा। विविध दिशाओं से हवाएँ आ आ टकरा जातीं। कभी-कभी आकाश लाल, पीला हो जाता, धुंधला तो रहता ही। लू की लपटें उस आन्दोलन में न जाने कहाँ बिला गयीं। दुखियों की उन आहों में जो भाप बन-बन उड़ी थीं, न जाने कहाँ की शक्ति आ गयी। उन्होंने अखिल खमण्डल को मथ डाला। आकाश बादलों से घिर गया। उमड़ घुमड़ होने लगी—घम-घम, घुर-घुर, घड़-घड़, घहर-घहर,—तरह-तरह के शब्द होने लगे: गगन सदन में मेघ राग गाने के लिए साज मिलाये जाने लगे।

योगेन्द्र पहाड़ पर मंदिर के सामने बैठे पावस का आगमन—आशा और उमंगों का अपूर्व पर्व, अपूर्व उत्सव देख रहे थे। मेघों के गंभीर गर्जन हृदय को आतंकित कर कर नया जोश भर देते। दामिनी की दमक दिल दहला दहला सारी कायरता भगा देती। कभी-कभी बिजली आकाश के एक छोर से दूसरे छोर तक चम्म सी चमक जाती। उस खिलाड़ी की तलवार की यह चमक, यह हाथ देख विश्व की आँखें चौंधिया जातीं और जाती हैं। तलवार के एक हाथ में महानाद के क्षणिक नाद में विश्वनाट्यशाला को विध्वस्त, वित्रस्त, विकंपित कर देनेवाली वाह री तेरी शक्ति!

किस विजयी की सेना की ऐसी विस्तीर्णता, ऐसा उल्लास, ऐसी विजयोन्मत्तता, ऐसी शक्तिमत्ता होगी ? ओह ! बड़े-बड़े वायुयान जो गोले ले वायुमण्डल में मँडराते हैं वे इसकी एक चमक में चौंधिया जायेंगे, इसके इसके एक वज्रपात में चूर-चूर हो जायेंगे।

जलते हुए विश्व पर कैसी शीतल छाया घिर गयी—कैसा सघन वितान तन गया, मानो नन्दन तमाल ने अखिल विश्व पर अपनी शाखाएँ पसार दी हों; मानो नीलाकाश का हृदय ही बाहर उमड़ पड़ा हो; मानो सागर ही उठ कर अनंत गगन में फैल गया हो।

कई दिनों तक उमड़-घुमड़ होती रही। रात को योगेन्द्र बाहर पड़े-पड़े आकाश का वह महोत्सव देखा करते। परंतु वे संतापहारी, आशा के प्रतीक विरह के दूत बन-बन क्यों आ रहे थे, आया करते हैं ? बीते दिनों की याद दिला सोयी स्मृतियों को जगा ये क्या पाते हैं ? आँसुओं से भरे आँसुओं के ही दाय ले आते हैं। उन्हें लगता वे बादल जल के बहाने उनकी समग्र दिनचर्य्या भर लाये थे। जैसे-जैसे वे डोलते वैसे-वैसे उनकी स्मृतियाँ भी डोलतीं। जैसे-जैसे वे गर्जते वैसे-वैसे उनकी वेदना भी गर्जती। वाह रे पपीहा ! तुझे पता नहीं की तेरी 'पिय-पिय' की पुकार हिय-हिय में वेदना की कैसी झंकार कर रही है ! लेकिन तू बोलता जा। कर्मयोगी ने सब कुछ सह लिया है। सुन सुन, वह क्या कह रहा है—"फट जाता है हृदय, फट जाय, तू बोलता जा। हूक जाता है हृदय, हूक जाय, कोयल तू कूकती जा। मरोर उठता है हृदय, मरोर जाय, मोर तू अंग मरोरता जा।"

"क्या जीवन में सब कुछ खोया ही है, खोने ही को है ? क्या नहीं खोया ?—शैशव खोया, सगे स्वजन खोये; प्राणों के स्पंदन में जिन प्राणों के स्पंदन थे, कदमों के साथ जिनके कदम उठते—वे सभी खो गये। वे बाबा कहाँ—वे साहस, दृढ़ता, ज्ञान और अनुभव के आलोक कहाँ ? वह अभागा देश कहाँ, जिसकी छाती पर संग्राम हो रहा है; जिसके दुधमुँहे बच्चों की भूख की चीत्कार सुननेवाला कोई नहीं; जिसकी सुहागिनियों के सिंदूर की भी व्यवस्था नहीं, जिनकी सुहाग रातें विहाग रातें हो जाती हैं। जिनके अधिकारों

की माँग डंडों, गोलियों और बंबों से पूरी की जाती है?—उसकी सेवा का अधिकार भी छिन गया, खो गया!"

यह अपना घर है। छोटा बालक खेलते-कूदते बड़ा होने लगता है। चंद्रा आती है-भाभी आती है; वह बढ़ने लगता है, पढ़ने लगता है। सविता आती है। प्यार होता है। समाज की व्यवस्था, देश की व्यवस्था, विश्व की व्यवस्था के प्रति क्षोभ होता है, क्रांति के भाव जगते हैं, क्रांति होती है—अधिकारों की माँग होती है। जेल की तैयारियाँ होती हैं, जेल भर जाते हैं। डंडे गोलियाँ, बलवे आदि-आदि सभी चित्र प्रवासी के सामने आने लगे।

आज रात को बूँदें छूट गयीं। वर्षा होने लगी। ऐसी-वैसी नहीं, प्रचुर जल-वृष्टि हुई। योगेन्द्र बाहर से उठ गुफा में चले गये थे। मधुमय स्मृति-सी, प्रेम की प्रथम उमंगों-सी, शैशव-सी पावस की यह पहली रिमझिम कितनी प्यारी होती है।

एक बार रात को ही उसी प्रचुर वृष्टि के बीच जोर की हरहराहट-सी सुन पड़ी। जैसे वह नीचे को आती हुई बिखरी और फैलती-सी योगेन्द्र के निकट होती जा रही थी—यहाँ तक कि वे विस्मित हो उठ बैठे। इससे उस रिमझिम का धारा प्रवाहित संगीत पूर्ण आनन्द जो वे अपने श्रवणपुटों से पी रहे थे, विच्छिन्न-सा हो गया। जैसे पहचानते हुए भी उन्होंने वह आवाज पहचानी न। पहचानने की चेष्टा तो पूर्व निश्चित 'यहाँ कौन' की धारणा और विस्मय में ही अचेष्टा बनी बैठी थी, निश्चिंत हो सो रही थी।

सुबह उठे और शौच होने चले गये। आज विहंगों के पानी से लदबद हुए-से कलरव में वह आनंद न था जो दादुरों की टरटराहट में, सारा वन-प्रांत उसी से मुखरित हो रहा था। इन तंत्रों के तार शिथिल हो गये थे, उन्हें झनझनानेवाली उमंगें झुलसा गयी थीं, बूँदों के मिजराब की चोट लगते ही वे बज उठे। जले-भुने, झुलसे, धूल-धुँधले पत्ते धुल उठे, ऐसे ताजे हो गये जैसे कोई प्यासा ठंढा जल पीकर खिल उठे, पुलक उठे, उसकी आँखें खुल जायँ। प्रकृति की जली कटी, फटी साड़ी धानी रंग की साड़ी हो जायगी।

शौच हो जब वे अपने स्थान को आ रहे थे तो देखा कि एक हवाई जहाज गिरकर टूट गया था। संभवतः, नहीं, निश्चय ही, उसी की हरहराहट रात सुन

पड़ी थी। तीन यात्री भी जो उस पर थे, वहीं गिरे थे। उन्होंने निकट जा देखा दो बुरी तरह मर गये थे। उनके अंग टूट-फूट चूर-मूर हो गये थे। रक्त से भूमि लथ-पथ हो गई थी। तीसरे को चोट तो कहीं नहीं लगी जान पड़ती थी, परंतु शरीर प्राणों से खाली लग रहा था। परंतु हृदय पर हाथ रक्खा तो धड़कन हो—रही थी। उसके मुख का बुरका खींचा तो वह अँगराई लेता और कराहता हुआ उठ गया। योगेन्द्र ने आश्चर्य और विषाद के साथ देखा वे कर्नल नरेन्द्र थे। वे अतीव विस्मित हो नेता की ओर एक टक देखने लगे। उन्हें अपने अंक में सँभालते हुए वे बोले—"कर्नल ! मुझे यहाँ देख आश्चर्य न करो। यह बतलाओ तुम्हें कहाँ और कैसी चोट आयी ?"

—नेता जी ! नेता जी ! हम लोग कहाँ हैं ?

—कहीं हो, हैं हम जमीन पर और आकाश के नीचे। अपना हल बताओ।

—चोट कहीं नहीं जान पड़ती, परंतु सारा शरीर चूर-चूर हो गया है और दाहिना पंखा...।

यों कह वे अपना हाथ ऊपर उठाने लगे, परंतु न उठा सके। दाहिने पंखे में कड़ी चोट आयी थी। कर्नल वहीं पास ही नाले के दलदल पर गिरे थे, नहीं उनकी जीवन-यात्रा भी समाप्त हो गयी होती। नेता जी ने अपने कपड़े फाड़ किसी लता के पत्ते तोड़ सेंक सेंक चोट पर बाँधे। कर्नल ने कहा—"बाँध दीजिए। एक दवा भी पास है, उसे भी लगा लेंगे, अच्छा हो जायगा।"

फिर कर्नल ने अपने साथियों का संक्षिप्त परिचय बतलाया और उनकी अस्थियाँ एकत्र कर उनका अंतिम संस्कार किया। फिर योगेन्द्र उन्हें साथ ले गुफा मंदिर में गये। अभी उन्हें सहारा देकर ही ले जाना पड़ रहा था। वहाँ जाकर उन्होंने एक दूसरे की कहानियाँ सुनीं और सुनायीं। कर्नल ने बतलाया कि जब मैं जापानी जहाज से ऊपर उठा लिया गया तभी से वहीं रहता रहा और अपने देश के प्रति जापानियों की सच्ची सहानुभूति जगायी। वे हमारे लिए अब कोई भी क्षति उठा सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि भारतीय सेना में भी सच्चे देश-प्रेम, देश-सेवा तथा उसकी स्वतंत्रता का भाव जगाया, और इसीसे वे जानने लगे हैं कि अब हम अपने लिए लड़ेंगे, न कि उनके लिए जो हमें सदा परतंत्र रखना चाहते हैं।

योगेन्द्र की कहानी सुन कर्नल को बहुत परिताप और विक्षोभ हुआ। नेता जी ने देखा, साश्चर्य देखा कि तलवारों, बन्दूकों तथा बम की वर्षा के रक्त रंजित, विध्वंसपूर्ण वातावरण में रहने और युद्ध सरीखे भीषण कर्म करनेवाले का हृदय इतना कोमल है कि वह मेरे सुख-दुख को अपने सुख-दुख से भी बढ़कर समझता है। वे बोले—"मेरे कर्नल ! यह विधान बड़ा ही रहस्यमय है। बड़ी बड़ी आशाएँ निराशा में और निराशाएँ आशा में परिणत हुआ करती हैं। नियति के वात्याचक्र से हम जीवन के अगाध सागर में न जाने कब और कहाँ फेंके जा सकते हैं। परंतु प्रत्येक दशा में हमें जीवन के लिये युद्ध करना होगा, और वह युद्ध रो रोकर नहीं, हँस हँसकर करना चाहिये। कायर पलायन-वादी होकर जीवन के क्षणिक सुख का उपभोग करते हैं, वीर उससे युद्ध कर उसकी कटुताओं को योगिराज शंकर की तरह पान कर जाते हैं।

अच्छा, यह बताओ अब तुम्हें क्या खिलाऊँ मैं ! अब तक मैं इसी फल पर जी रहा हूँ जिसका न नाम जानता हूँ और न जिसे देखा था। लेकिन ये फल तुम्हें क्यों अच्छे लगने लगे ? मैं तो इसका आदी हो गया हूँ।"

क०—आपको अच्छे लग रहे हैं और मुझे नहीं लगेंगे ? लेकिन मेरा यह कहना ठीक नहीं। कहाँ आप योगी और मैं भोगी। परंतु आपके संसर्ग में कोई भी साधना असंभव नहीं।

यो०—जिसे तुम्हारे जैसा उदार हृदय मिला है वह सब कुछ कर सकता है, और वही सच्चा योगी है। मेरा संसर्ग क्या करेगा कर्नल ! तुम स्वतः सब योग्य हो। लेकिन इधर तुम बड़े अस्वस्थ हो गये हो। उस बार जब तुम्हें देखा था तो यौवन तुममें लहरें मार रहा था, यद्यपि तुम अपने पूरे स्वास्थ्य में न थे। इस समय जैसे तुम्हारा बढ़ता हुआ यौवन विभीषिकाओं के टीलों में शिथिल तथा स्थगित-सा हो गया हो।

क०—मेरे स्वास्थ्य की चिन्ता न कीजिये नेता जी ! वह ठीक हो जायगा। अब इस कारा से कैसे मुक्ति होगी ? जिसने अपने जीवन को प्राणिमात्र के कल्याण में तिल-तिलकर तर्पण कर दिया उसका ऐसा निर्वासन ? क्या ऐसी तपस्या का यही फल होना था, उसे व्यर्थ हो जाना था ?

यो०—किसी कर्म, किसी तपस्या का फल हम अपनी अनुमित आशा,

अभिलाषा के रूप में न देख सकें, यह संभव है, परंतु उसका कुछ फल न हो और अच्छा फल न हो, यह कदापि संभव नहीं। अच्छा यह सब छोड़ो, ये फल खालो मेरे हाथ से।

कर्नल को बहुत कुछ आशा थी कि चन्द्रावती देवी भी इसी द्वीप में होंगी। परंतु नेता जी को इतने दिन वहाँ रहते हो गया, उनका कुछ पता न चला। किंतु द्वीप के ऐसे भाग भी अभी थे जहाँ उनके पैर अब तक न पड़ पाये थे। अतः आशा, जो अपनी विश्वव्यापिनी स्थूल काया को अणुमात्र में भी प्रसरित कर देती है वहाँ से क्यों विदा होती ?

संध्या प्रभात होने लगा : समय बीतने लगा। उसके सभी वेश-विन्यास अपरिचित से, विस्मय भरे से, भयावह से लगते, और मानो कहते—हमें देख झिझको मत, हमारे साथ रहना ही होगा।

एक दिन दोनों प्रवासी टहलते-टहलते बहुत दूर निकल गये। जाते-जाते वहाँ पहुँच गये जहाँ नेता जी ने प्रथम प्रश्रय लिया था। उनके उसका परिचय बतलाने पर कर्नल के हृदय में उसके प्रति वही अनुराग जगा जो भरत में राम के आश्रयों प्रति जगा था। उन्होंने कहा—"नेता जी, आज की रात यहीं बीतेगी।"

वे बोले—"बरसात की रात है। आकाश में बादल छाये हुये हैं।"

कर्नल ने आग्रहपूर्वक कहा—"पानी नहीं पड़ेगा। उन्हीं डालों पर सो रहेंगे। मेरा जी यही चाहता है।"

"तुम तो भरत हो। ओह! तुम्हारे हृदय में कितना अनुराग है। मैं भला तुम्हारे लिये राम का प्रेम कहाँ से लाऊँ ?" नेता जी ने प्रेम-विभोर हो कहा।

"आप, जिसे प्रत्येक प्राणी भरत है!" कर्नल बोल उठे।

अस्तु, वहीं कुछ वे ही फल खा उसी खड्डी पर रात बितायी। प्रातःकाल नित्य-कृत्य से निवृत्त हो लौटे। वृक्षों, झुरमुटों, नालों तथा हरी-हरी घासों के समतल देख कर्नल आज कुछ प्रसन्न हो सके। प्रकृति जैसे अपने पन्ने खोल-खोल अपने वर्ण-वर्ण—उनके हृदय में समाने लगी। योगेन्द्र ने कहा—"आज प्रकृति अपनी काव्य-व्यंजना से तुम्हें कुछ आनंद दे रही है कर्नल!"

कुछ दूर आने पर देखा कि एक शेर अपनी माँद में अँगड़ाइयाँ ले रहा

था। उन्हें देख वह सिर ऊँचाकर अपनी वीरोचित ध्वनि में अकड़ कर बैठ गया। वहाँ शेर देखने का यह पहला अवसर था। कर्नल ने कहा—"अब क्या होगा? मेरा तमंचा भी चूर चूर हो गया। मैं इसकी क्षुधा तृप्त करूँगा, आप चले जाइये। पहले का बल शरीर में नहीं रहा, फिर भी दो एक हाथ लड़-कर मरूँगा।"

यो०—मेरे जीवन का मूल्य···।

क०—आपके जीवन का मूल्य मुझे आँकना है?

यो०—मुझे नेता मानते हो तो मैं यहाँ भी आगे रहूँगा। आओ हम अपना मार्ग चलते रहें।

शेर में कोई उत्तेजना न हुई—उसकी हिंस्रता में कोई विस्फूर्जन न हुआ। जैसे हिंसा अहिंसा से अभिभूत हो जाय। वह बैठा रह गया। वे चलते रहे। देर बाद वहाँ पहुँचे जहाँ जहाज गिरा था। कर्नल की आँखें जैसे कुछ टटोल रही थीं। इसी बीच योगेन्द्र ने समीप ही झुरमुट में कोई वस्तु देखी। वह एक हस्तलिखित पुस्तक थी। उन्होंने कहा—"तुम कुछ ढूँढ़ रहे हो क्या कर्नल? देखो यह क्या है?" उन्होंने चौंक कर देखा और प्रसन्न हो उसे उठा लिया। उसका कुछ अंश पढ़ते हुए योगेन्द्र ने कहा—"यह तो किसी महिला की आत्म-कहानी है। वे कौन हैं?"

क०—इसे पढ़ कर तो सभी कुछ जान लेंगे। पढ़ने ही के लिये मेरे इन मरे हुये मित्रों ने लिया था। कहानी बड़ी अच्छी लगी, मैं भी सुन रहा था।

यो०—पानी टपकने से इसके अक्षर यत्र-तत्र लिप गये हैं। उस दिन से वैसी वर्षा नहीं हुई, नहीं तो सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता।

यों कह वे मौन हो गये, मानो कुछ चिंतन करने लगे हों। उन्होंने पूछा—"क्या सोचने लगे नेता जी?" वे बोले—"क्या बताऊँ—तुमने सविता के अक्षर क्यों देखे होंगे? ये अक्षर बिल्कुल सविता के से हैं।"

उनके स्तिमित नेत्रों को देखते हुये कर्नल ने कहा—"कुछ लोगों के आलेख ऐसे मिले-जुले होते हैं कि उनका पहचानना कठिन हो जाता है। मुझे तो उनके आलेख देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका है। आपको उनकी

याद आ गयी और इसके पढ़ने से बराबर आती रहेगी। इससे आपको बड़ा कष्ट होगा। हम चाहते हैं कि यह पुस्तक अभी न पढ़ी जाय।"

बातें करते वे गुफा में पहुँच गये। नेता जी ने आलोकित हो कहा-"कर्नल! तुम मेरे दुख से बहुत दुखी होते हो; परंतु मुझ सा सौभाग्यशाली तुमने किसी और को देखा है? सविता-सी पत्नी, चन्द्रावती-सी भाभी, तुम तथा जितेन्द्र आदि सरीखे सहचर, बाबा जैसा पथ-प्रदर्शक, सेवा की लगन—स्वतंत्रता के लिये संग्राम—क्या ये सब साधारण अधिकार हैं?"

क०—आप जैसे महा पुरुष, जिनके सामने बड़े-बड़े प्रश्न रहते हैं, अपने निकटतम संबंधों के प्रति उदासीन-से हो जाते हैं। परंतु आपको इसका अप-वाद देख मुझे बड़ा आश्चर्य होता है।

यो०—आश्चर्य क्या है कर्नल? जो अपने समग्र शरीर का रक्षक है वह अपने किसी एक अंग को कैसे भूल जाय?

क०—मुझे कुछ सविता देवी की बात सुनाइये।

यो०—सविता की बात दिन रात किया करूँ, कोई थकान नहीं आ सकती और न उसकी कहानी—उसकी गुण-गाथा समाप्त हो सकती। सविता आदर्श रमणीरत्न है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान के स्त्री आदर्शों की आदर्श ज्योति है। क्या कहूँ, उसकी प्रशंसा अपनी प्रशंसा-सी लगती है।

कर्नल ने दीर्घ निःश्वास ले कहा—"ऐसे दम्पति को दाम्पत्य प्रेम का क्या सुख मिला?"

यो०—क्या सुख मिला? यदि इस दम्पति के दुखों से अनेकों दम्पति सुखी हो जायँ, तो वह दुखी कैसे?

क०—आप और सविता देवी को मैं साथ-साथ अपनी आँखों देख लेता।

यो०—देश स्वतंत्र हो जाता, प्राणिमात्र के कल्याण की व्यवस्था हो जाती, तो हम दोनों के विप्रलंभ में भी तुम्हें हमारे परिरंभण की बाकी झाँकी मिलती।

क०—सविता देवी की याद आपको सताया करती है। भला मैं किसी तरह आपका कष्ट कुछ हलका कर सकता हूँ? किसी तरह कर सकता!

यो०—तुम्हारे आने से मुझे बड़ी राहत मिली है कर्नल—और वैसी ही जैसी तुम चाहते हो। भगवान ने दया कर तुम्हें भेज दिया यहाँ नहीं तो…।

कर्नल ने एक लंबी साँस ली। योगेन्द्र ने पूछा--"इस उच्छ्वास में कौन ?"

क०---देवी चन्द्रावती ! उन्हें अब हम जंगल के अनदेखे भाग में नियमतः ढूँढ़ा करेंगे।

यो०---अवश्य। उनकी क्षति पूरी नहीं हो सकती कर्नल। वे मेरे पथ का पाथेय, मेरी शक्ति की स्फूर्ति, मेरे अरुणोदय की प्राची, मेरे इंजन की स्टीम थीं। जो कुछ भी उत्तेजक, उत्साहवर्धक, उत्कर्षक, प्रकाशक है वे सब कुछ थीं। उनके स्नेह से मुझे माता का अभाव कभी खटका तक नहीं। उन्हें देख मेरा भोला शैशव मेरे कौमार तथा तारुण्य में भी हुलसा करता---उनकी स्मृति मात्र से यह हुलास होता रहता है। मातृ-स्नेह के साथ-साथ उनके भाभी का स्नेह भी साधारण नहीं था। अपने मधुर हास-परिहास से मेरे रोने मन को भी हँसा दिया करतीं; मेरी कलकों में भी पुलकें भर दिया करतीं। सविता को तो अपने प्राण ही समझतीं। जब मेरी देवरानी, मेरी प्यारी देवरानी कह कह वे सविता की चर्चा किया करतीं,---और यह चर्चा के बराबर किया करतीं---,तो उन्हें लोकोत्तर-सा आनन्द मिल जाता---उनका हृदय कवि का हृदय हो जाता, वे वन के सघन द्रुमों के नीचे, ग्रीष्म-संध्या में, हरित पुलिनों के बीच, सुढर, सुचौरस, सुदृढ़ भूमि पर निर्मल नीर संकुल नाले-सी बहने लगती।"

३८

आकाश बादलों से घिरा था। अंधकार माया के गाढ़े तमसावरण-सा छाया था। अलकतरे-सी काली, इंजन के धूँए-सी सघन, विरही के हृदय-सी दुरुह यामिनी थी। रजनी यह काली चादर ओढ़ आभिसारिका बन दिन से मिलने जा रही थी। द्रुमों, पर्वतों, सागर, गगन सबकी आँखों से बचना सहज तो नहीं। जुगनु जुग-जुग कर अपना प्रकाश फैलाना चाहते, पर शीघ्र ही पवन के झकोरे उन्हें क्षीण संकल्पों से उठा ले जाते। दादुर, झींगुर, झिल्ली—पावस के ये सुरीले गायक मस्त हो गा रहे थे। वायु की सनसनाहट और तरंगों की हरहराहट में विचित्र संगीत था। परंतु इन सभी रागों में सम्भ्रांत भयावहता-सी भरी थी।

दोनों प्रवासी उसी गुफा में पहाड़ के ऊपर बैठे थे। कुछ-कुछ ठंढ लग रही थी। पानी भी पड़ने लगा। ठंढ अधिक हो गयी। कर्नल ने थोड़ी सूखी लकड़ियाँ जला दीं। नेता जी ने कहा—"जेल के दिन याद आ रहे हैं कर्नल! वहाँ यहाँ से अधिक कष्ट था। छत और खिड़कियों से हवा-पानी मुझे जी भर हिलाते, दहलाते। गट्ठर बन घुटनों से नाक लगाये सर्पों और बिच्छुओं के बीच रातें कट जातीं। तब मेरा मन गुनगुना कुछ गाया करता। प्रकृति की वह निष्ठुरता मुझे बड़ी प्रिय लगती; क्योंकि उसमें प्रवंचना नहीं थी—वह स्पष्ट कहती—"मैं सताने के लिए भेजी गयी हूँ, सता रही हूँ।" वह उस प्रतारणा की प्रतीति प्रतिमा सी नहीं थी, जो सहला सहला मधु की दो-चार बूँदें मुख में डाल सारा रक्त चूस लेती है और उसी का रक्त जिसके दूध पी पीकर वह पीन होती है। हमसे भी अधिक हमारा देश क्रूरों की क्रूरता, कृतघ्नों की कृतघ्नता और घर की फूट से काँप रहा होगा।"

इतने में सहसा बिजली कौंध गयी। सर्वत्र प्रकाश हो गया, परंतु तत्क्षण ही उसी अंधकार से घिर जाने को। योगेन्द्र की कथा-श्रृंखला टूट गयी और

वे बोले—"ऐसे ही ज्ञान की बिजली हमारे भीतर क्षण भर को चमक जाती है। उस प्रकाश की छाया भी कुछ देर तक रह जाती है। कर्नल! बादलों की कसौटी पर यह रेखा खींच कोई हमारे हृदय को परखता है।"

क०—सविता देवी आपके हृदय में झाँक जाती हैं।

यो०—पुरानी बातें याद आ गयीं कर्नल, सुनो। ऐसी ही कितनी रातें, जब हम लोग युनिवर्सिटी में पढ़ते थे, जीवन के प्रेम निकुंज में बितायी हैं। एक बाढ़ आयी थी हम लोग पीड़ित जनता की सहायता के लिए चल पड़े। अपने प्राणों को हथेली पर ले उनके तन-धन की रक्षा में संलग्न थे। ऐसा था कर्नल, कि मेरे साथ सविता का और उसके साथ मेरा बल दुगुना, तिगुना और चौगुना हो जाता। एक बार ऐसी ही रात में फू मार कर बहती हुई नदी में नाव पर आ रहे थे। नाव डगमगाने लगी। माँझी ने बहुत सँभाला, परंतु वह उलट ही गयी। हम दोनों साथ-साथ एक भयानक धारा में बह चले। एक खार में पहुँचे। सविता डूबने लगी। मैं उसे बचाने चला। उसने अपने हाथ खींच मुझे दूर हटने का इशारा किया। मैंने न माना और उसे पकड़ लिया। हम दोनों डूबने चले, परंतु एक दूसरी धारा दूसरी ओर बहा ले गयी।

एक क्षण का विश्राम ले एक लंबी साँस छोड़ वे फिर बोले—"एक ऐसी ही रात में हम लोग बिजली से बचे। मैदान में भीगते हुए आ रहे थे। बिल्कुल हम दोनों के निकट बिजली गिरी। हम एक दूसरे से लिपट गये। वहाँ से होस्टेल में आये। कपड़े बदले। कमरे में प्रकाश था। हम लोग एक दूसरे की ओर देख रहे थे, मानो अपने अस्तित्व पर अब भी विश्वास न हो और कह रहे हों—'अभी अभी क्या हो जाता। आश्वस्त हो जाने पर मैंने कहा—"सविता मैं न रहता तो ?"

उसने कहा—"तुम्हारी स्मृति-छाया के साथ जीवन पथ चलती, दूसरा साथी न ढूँढती। क्या तुम विश्वास करोगे ?"

मैंने कहा—"नहीं।"

सविता मुस्कुरा कर बोल उठी—"वाह रे तुम्हारा नहीं!"

वह सदैव मेरे मर्म को छूती रही। उसका आत्मसमर्पण विचारों की उत्क्र-

ष्टता, जीवनोत्सर्ग की बलवती आकांक्षा देख मैं चकित और मुग्ध हो जाया करता। उस समय भी हम लोग बहुधा ये ही बातें किया करते—"प्राणिमात्र की सेवा देखें हमसे कितनी बन पड़ती है। जीवन को समझना होगा, उसे सत्य रूप में रहना होगा।"

कर्नल की मुद्रा प्रेम, उत्साह, स्मृति एवं संवेदना से आलोकित हो रही थी। कहानी के वर्ण वर्ण के भाव उनकी आकृति में प्रकाश बन फैल रहे थे।

देखते देखते योगेन्द्र की मुद्रा गंभीर हो गयी। आँखें देहरी दीपक की भाँति बाहर और भीतर दोनों ओर देखने लगीं। वह प्रतिमा विभा और शांति की थी। वह गरिमा उत्सर्ग और कांति की थी। कर्नल ने वह दिव्य मूर्ति देखी, देखते ही रह गये। उस प्रतिमा की यह प्रतिमा आज पहली बार देखी! जैसे ऊषालोक में विश्व रंग जाता है, अनंत कौमुदी में दिन का ताप नहाता है, वैसे ही वे भी रंग गये, नहा गये।

३९

पावस प्रभात अपनी विशाल सजधज और हुलास, उल्लास से उदय हुआ। प्रकृति के इस विस्तीर्ण, मनोरम खराड को देख उसका हुलास और भी बढ़ गया। आकाश के उस पुनीत पर्व में ऊपा के स्वर्ण सरोवर में सुस्नात हो सजल, सुकोमल मेघों की शोभा, जब किरणों ने उन्हें इन्द्रधनुष का हार पिन्हा दिया, अवर्ण्य हो गयी। हरित-हरित पत्रों तथा जल की लोल-लोल लहरियों पर रश्मियों का रहस् आशा पर आह्लाद की उमंगों सा नृत्य कर रहा था। ओह! ऐसे ऐसे चित्र वह महा चित्रकार बनाता और बिगाड़ देता है—, नहीं, फैलाता और समेट लेता है! मोहन मुरलीवाले की एक-एक मुस्कान, एक-एक चितवन, एक-एक भ्रूविलास, एक-एक इंगित विश्व के कैनवस पर निरंतर ऐसे-ऐसे विराट चित्र बनाया करता है।

रजनी ने दिन के अंक में अपना उत्सर्ग कर दिया। उसकी स्मृति की बिखरी बूँदों को उसकी किरणें कितने स्नेह से उठा रही थीं। योगेन्द्र ने कहा—"कर्नल! यह प्रेम का पर्व देखो, जीवन का जागरण देखो! प्रेम में ही अंधकार का आवरण फटता है, प्रेम में ही जीवन का जागरण होता है!"

जंगल का वह भाग जिधर वे घूम रहे थे, शेष से कुछ और घना और अपने ढंग का अनूठा था। कितने वृक्ष, लताएँ और घासें मिल रही थीं जो अब तक अपरिचित थीं। पावस ने उन सबको नूतन समृद्धि दे रक्खी थी। आज उन्हें देख मरकत की खान भी लज्जित हो रही थी। एक नाला पर्वत के नीप से निकल बलखाते, अठखेलियाँ करते सागर के परिरंभण में समाहित हो गया था। अनेकों वृक्ष अपने करपल्लव सुंदर सुंदर फूलों से भर आगे बढ़ाये हुये थे। उन्होंने कुछ फल चखे—कुछ कड़वे, कुछ कसैले और कुछ मीठे भी थे। परंतु उन्हें खाने का साहस न हुआ। घासों पर तथा पानी के बहाव से जमी हुई सूखी चौरस उजली मिट्टी के पटपर पर इन्द्रवधूटियों की अवलियाँ मरकत

तथा स्फटिक शिला पर लाल के छोटे-छोटे, गोल-गोल ढुरकते हुये टुकड़ों सी लग रही थी।

योगेन्द्र ने कहा—"कर्नल ! इस उजली उजली भूमि पर लड़कपन में हम किस उत्साह से खेला करते। वे दिन अब तक याद हैं। विस्मृति की धूल उन्हें ढक न सकी और न ढक सकेगी।"

दूर जाने पर एक झाड़ सरीखा छोटा सा वृक्ष मिला। कोई जानवर उसकी जड़ें खोद खोद बड़े चाव से खा रहा था। उन्हें कन्दमूल का ध्यान आया। उसके जो वृक्ष उन्होंने देखे थे, कुछ कुछ उनके सी ही पत्तियाँ इसकी भी थीं। वे बोले—"इसकी जड़ें बड़ी मीठी जान पड़ती हैं कर्नल। संभव है यह कन्दमूल ही हो।"

क०—हो सकता है। परंतु परखने में तो प्राणों की बाजी लगानी है।

यो०—प्राणों की बाजी कब नहीं लगी है ?

कर्नल ने दो तीन सेर जड़ें खोदीं। फिर वहाँ से आगे बढ़े। नालों, झुरमुटों, सुंदर-सुंदर शिलाओं हरे भरे समतलों तथा विविध वृक्षों से होते हुये चले जा रहे थे। एक नाले के निकट झुरमुट की झाड़ में एक पोटली-सी पड़ी थी। उसके चारों ओर बड़ी-बड़ी घासें उग गयी थीं। यह पोटली थी देवी चन्द्रावती की। उन्होंने भी कोई वैसा ही फल खा लिया था और महीनों से बेहोश पड़ी थीं।

योगेन्द्र और कर्नल उनके पास ही थक कर एक स्वच्छ शिला पर बैठ गये। परंतु उस ओर उनका ध्यान न गया। कर्नल के चेहरे पर निराशाभरी उदासी देख नेता जी ने कहा—"आज तुम बहुत बड़ी आशा लेकर आये थे, इसीसे इतने खिन्न हो गये। सबकी आशा भी करो और सबसे निराश भी हो जाओ—आशा, निराशा दोनों को एक ही अजिर में हिलमिल खेलने दो।"

चंद्रा की ही बातें हो रही थीं और उनके कानों में इन शब्दों की क्षीण प्रतिध्वनि टकरा रही थी। परंतु वे उन्हें ग्रहण न कर पातीं। वे जैसे स्वप्न देख रही हों, जैसे बहुत दूर से कोई वस्तु देख रही हों, जिसकी कोई रूप-रेखा स्पष्ट न दिखती हो। उन्होंने दो एक बार फू मारा, परंतु उन लोगों ने भी सुन कर भी न सुना, चौंक कर भी न चौंके।

आकाश में बादल डोल रहे थे। कभी धूप हो जाती, कभी छाया। कर्नल

जब अपने मुख से पसीने की बूँदें पोंछने जा रहे थे, योगेन्द्र ने कहा "ठहरो कर्नल ! इन्हें अभी पोंछो मत—गुलाब की पँखुड़ियों से इन मोतियों को समेटो मत—रूप की फुलबाड़ी से रस भरे इन सुंदर-सुंदर फूलों को तोड़ो मत, इन्हें थोड़ा और ठहर लेने दो।"

कर्नल ने मुस्कुरा कर कहा—"आपका यह कवि भी कैसा है ? किस राजनैतिक नेता में ऐसी सरसता भी होगी भला ?

तो क्या आप इन्हें अपने हाथों...?"

दोनों हँस पड़े। इतने ही में आकाश में उड़ते हुये पक्षियों के मुख से गेहूँ की दो तीन बालियाँ और चने की कुछ फलियाँ उनके सामने ही छूट गिरीं। आकाश की ओर देख और उन्हें उठाते हुये योगेन्द्र ने कहा—"ये पक्षी न जाने कहाँ से उड़े आ रहे हैं ? क्या ये हमारे कंकाल देश के दाने हैं ? हम इनसे अपनी फसल तैयार करेंगे।"

संध्या आयी न थी, अभी दूर पर आ रही थी। जैसे बहुत दूर से आती हुई रेलगाड़ी का धुँआ आसमान में दिखता है, वैसे ही उसकी साड़ी का छोर झलक रहा था। गुफा में लौट आने और फलों की थोड़ी बयारी कर लेने पर नेता जी ने कहा—"देश पर इस समय न जाने क्या बीतती होगी कर्नल। खान साहब खून की नदी बहाते होंगे। लीग काँग्रेस से तन कर देश के टुकड़े करने में लगी होगी। हमारे देश भाई हमारे लिए तड़पते होंगे। नेताओं के सामने हमारी एक और नयी समस्या खड़ी होगी। जितेन्द्र, सावित्री कितने दुखी होंगे। अनोखे राय की विधुरा विधवा और उनका बच्चा रो रो मरते होंगे, या मर गये होंगे। सविता होगी, तो... । बाबा।"

रात बीत गयी। प्रभात अपना जागरण गान और नवोन्मेष ले आया। उसमें उसके निशि के स्वप्न गा रहे थे, फैल रहे थे। अंडे बच्चे होते हैं, स्वप्न ही जीवन बनते हैं।

कर्नल आज कोई नयी वस्तु पाकर बहुत प्रसन्न थे। पूछने पर बतलाया कि इनसे बम बनाया जा सकता है। यद्यपि बम का यह दूसरे, तीसरे दर्जे का उपादान है। जापान में रह कर बड़ी कठिनता और संकट का सामना कर उन्होंने बम बनाना सीखा था। अपनी यह सब कहानी वे नेता जी को सुना चुके थे।

आज उस कन्दमूल की जड़ों को परखना था, प्राणों से प्राणों के लिए बाजी लगानी थी। पहले थोड़ा कच्चा ही मुख में डाला। कन्दमूल की-सी मिठास थी। फिर भुन डाला। कुछ ठंढा हो गया तो उठाया। वह पके हुए चावल के से सफेद-सफेद छोटे-छोटे टुकड़ों में भरभरा उठा। खाने में वह अन्य कन्दमूलों से, जो उन्होंने कभी खाया था, अधिक मीठा था। मीठा तो था, खा तो लिया, परंतु भय तो लगा ही था; क्योंकि मीठे तो वे फल भी थे। परंतु देर बाद तक भी कोई बेहोशी न आयी। प्रयोग सफल रहा।

योगेन्द्र और नरेन्द्र का परिवार अब छोटा न था—वह तो कभी छोटा न था, अर्थात् वसुधा ही कुटुम्ब थी—, परन्तु यहाँ आशय है एक साथ रहने और खाने-पीनेवाले कुटुम्बियों से। पहले एक हिरन आया, फिर एक हिरनी। तभी एक तोता और एक मैना भी आयी थी। ये घूम फिर कर अपना आहार ढूँढ़ लाते, परंतु इनके साथ भी भोजन में शामिल होते। भोजन से भी अधिक तुष्टि तो उन्हें तब होती जब उनसे प्यार कर लिये जाते, चूम लिये जाते, सहला लिये जाते।

परिवार बढ़ा तो कर्तव्य और कार्य भी बढ़े। अब हिरन, हिरनी और तोते मैने का व्याह हो ही जाना चाहिये था, बहुत दिनों से टलता आ रहा था। शुभ मुहूर्त्त में, सुन्दर फुलवारी के बीच, लता मण्डप में, जिन्हें योगेन्द्र और कर्नल ने तैयार किया था, वह शुभ कार्य सम्पन्न हुआ। पवन पण्डित ने पुलक-पुलक मंत्र पढ़े, पक्षियों ने कुरल-कुरल गाने गाये, लताओं ने हुलस-हुलस मालाएँ पहनायीं।

कर्नल को कुछ उदास देख उन्होंने पूछा—"यह उदासी कैसी?"

क०—इस शीश पर मंगल मुकुट न देखा; इस हृदय पर वरमाला न देखी; कोहबर में इस प्रेम भरे हृदय का, स्नेह भरी आँखों का, अरुण-तरुण अधरों का हँस-हँस कर रूठना न देखा।

यो०—बड़ी ही प्रिय घरेलू बात कही कर्नल। लेकिन उसे सूखी लटों में देखो; उसे सिहरों और आहों में देखो; उसे जेलों और प्रवासों में सूखे अधरों की पपरियों में देखो कर्नल!—देखो उनमें कितने मंगल, और हुलास का निकास, विलास है!

योगेन्द्र और कर्नल की दिनचर्या का एक अंश उस हस्तलिखित महिला की 'मेरी कहानी' का पाठ भी था। उसका पूर्ण उद्धरण बहुतों को अरुचिकर हो सकता है। अतः उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया जाता है। उसका प्रारंभ यों था :—

मैं अपने माता-पिता की एक ही संतान थी। फिर उन्हें, चाहे लड़का होती चाहे लड़की, क्यों न प्यारी होती? किसी संतान को मुझसे भी अधिक लाड़-प्यार मिला होगा, या मिल सकता है, इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती। परन्तु इस घने वात्सल्य में मेरे जीवन का निर्माण बिगड़ न सका, मेरी शिक्षा-दीक्षा का सुप्रबन्ध रुक न सका। मेरे पिता जो सुशिक्षित न होते तो इसकी संभावना तथा आशंका अवश्य होती।

माता के चुंबन-प्यार की तो बात ही न्यारी रही, अड़ोसियों-पड़ोसियों तथा पिता जी के मित्रों के चुंबन से भी मैं कभी-कभी ऊब जाया करती। मेरे गाल लाल और अधर अरुण हो जाया करते। यह नहीं कि मैं उस प्यार को समझ नहीं रही थी, केवल अधिकता से घबड़ा जाती। तब माँ को इसका उलहना दिया करती। अब जब मुझे वे दिन याद आते हैं तो कह उठती हूँ, जो प्यार मुझे मिला, जिस स्नेह में मैं पली, वह यदि इस विशाल और वितत वसुधा पर बिखेर दिया जाता तो यह शीतल, शांत हो जाती और स्वर्ग भी इसकी सुषमा पर सिहकता।

यथासमय मैं पाठशाला में भेज दी गयी। पढ़ने में मेरा मन खूब लगता। लेकिन वह लगन विशेषतः कदाचित् इसलिए थी कि साथ की समवयस्क बालिकाओं से मेरी पट गयी थी। मेरे लिए जैसे नित्य ही नये-नये कपड़े बना करते। उनसे मेरी रुचि मंद हो गयी। वस्तु का स्वाद उसके कुछ अभाव ही में है। अजीर्ण से भूख अच्छी है। मुझे तो कपड़ों से अजीर्ण हो गया था, परंतु माता-पिता की उनकी भूख बढ़ती जाती थी।

पड़ोस की गरीब घरों की लड़कियाँ जो न पढ़ सकती थीं और न जिन्हें पढ़ाने का ध्यान ही था, मुझे तथा मुझ सरीखी लड़कियों को सम्मान और गौरव की दृष्टि से देखा करतीं। घर पर मेरा समय अधिकांश उन चिथड़ों में लपेटी, मैली-कुचैली लड़कियों के ही साथ बीतता। बाह्य मालिन्य उनमें चाहे जितना

रहा हो, परंतु उनकी आँखों में जो स्नेह-स्निग्धता, सकरुण ममता तथा हृदय में जो साहचर्य था, वह उन उज्ज्वल वेशधारी बालिकाओं में नहीं। ऐसी विवेचना मुझमें तब क्यों रही हो ? मैं तो स्वभावतः उधर आकृष्ट हो जाया करती। लोहा क्या जाने कि चुंबक उसे क्यों खींचता है ?

कभी-कभी उन्हें मैं अपने कपड़े दे दिया करती। फल-मिठाई आदि-आदि तो नित्य बाँट-चोंट खाया करती। उनके माँ-बाप भी मुझे बहुत स्नेह करते और कहते—"बिटिया, कपड़े दे दिया करती हो, तुम्हारे बाबू जी तुम्हें मारेंगे और हमलोगों को भी बिगड़ेंगे। मत दिया करो।"

कहते तो वे सही, परंतु उनकी निर्धनता उनकी आँखों में जो तृष्णा तथा मन में जो इच्छाएँ उत्पन्न कर देती—कैसे अच्छे कपड़े हैं, बेटी इन्हें मेलों तथा पर्वों पर पहनेगी—उन्हें वे संवरण न कर पाते।

मैं उनसे कहती—"मेरी माँ, मेरे बाबू जी मुझे और तुम्हें इसके लिये कभी न बिगड़ेंगे। इस मंजिल पर जब वे दिन स्मरण आते हैं तो होता है, भगवन्! मुझे अनंत निधि इस कंगाल विश्व को लुटाने के लिये क्यों नहीं देता ? मेरे माता-पिता मेरी वदान्यता पर मन में भी रुष्ट न होते। जब मेरी सक्रिय उदारता सामान्य सीमा को लाँघने लगती तो वे हँसकर रह जाते। मेरा विश्वास उस समय भी यही था कि उन सुंदर-सुंदर वस्त्राभूषणों से मैं उतनी सुंदर नहीं लगती जितना उनके दान कर देने पर उनके स्नेह चुंबनों से लगती, क्योंकि तब मेरा रोम-रोम प्रात सुमन-सा विकसित हो जाता। माँ तो नहीं, पर पिता जी मेरे उतने दानी न थे जितना मेरी वदान्यता पर कोई नियंत्रण न रखने के कारण लोग उन्हें समझ सकते हैं। वह अनियंत्रण तो मेरे स्नेह के कारण था, जो उनकी प्रकृति पर भी विजय पा जाता।

मेरे पिता फिल्म कम्पनी के मालिक थे और हैं। बहुत बड़ी सम्पत्ति उनके पास है। परंतु उनकी सबसे बड़ी सम्पत्ति मैं ही हूँ। वे मुझे फिल्म के ऐक्टरों के संसर्ग से दूर रखते। कभी-कभी जब स्टूडियो में ले जाते तो अपने साथ।

समय बीतने लगा। आयु बढ़ने लगी। लेकिन वह बढ़ती है या घटती है ? कैशोर बीतने लगा, कौमार आने लगा। मेरे रूप-गुण की प्रशंसा होती। प्रथम

से मैं लज्जित होती और उत्तर से फूली न समाती। गुण-स्तुति मुझे उन्नति की ही ओर ले जा रही थी।

मेरे साथ पढ़नेवाली धनी घर की लड़कियाँ कितनी मुझसे स्पर्द्धा, कितनी द्वेष, कितनी ईर्ष्या करतीं और कितनी शुद्ध स्नेह एवं साख्य रखतीं। परंतु उनकी स्पर्द्धा तथा द्वेष से मुझे कोई उद्विग्नता न होती—उसकी कोई प्रतिक्रिया मेरे ऊपर न होती। परंतु संयोगवशात् कभी कोई मेरी कंगाल सखी रूठ जाती तो मेरे प्राणों पर बन आती। जब तक उन्हें मैं मना न लेती, तब तक जैसे मेरा सब कुछ खोया रहता। केस बड़ा रहता तो माँ से सहायता ले लेती। वे उसे बुला खिला-पिला पूछतीं—"क्यों रे तू मेरी बिटिया से क्यों रूठ जाती है ?" वह पानी-पानी हो जाती। अकिंचनता की उस रूठी करुण मूर्ति में कितनी शक्ति, कितना आकर्षण था ? वैभव उसके पैरों पर लोटने लगता।

गुड़ियों के खेल में मुझे उतना आनंद न आता, परंतु मैं खेला करती। पढ़ी-लिखी या पढ़ती-लिखती लड़कियाँ उसे गँवारिनों का खेल समझतीं और मुझ पर ताना कसा करतीं। उनकी गुड़ियों की साज-सज्जा का सारा मधुर भार मेरे ऊपर था। उस गँवार खेल में क्या जीवन का साधारण रहस्य था ?

एक बार मेरी छोटी ही सहेली को ससुराल जाना पड़ा। उसकी रुलाई आज भी मुझे याद है। उसकी बिदाई से जो आघात मेरे हृदय पर पहुँचा वह आज भी ज्यों का त्यों है। उसे मैंने अपनी एक बहुमूल्य माला उतारकर पहना दी। कितने मेरे स्नेह और दाय पर मुग्ध हो गये, कितनों ने मुझे पगली समझ लिया। परंतु मुझे तो उस दाय से कुछ संतोष न हुआ। उसका सारा दुख मैं सचमुच अपने ऊपर ले लेती तो होता। उसके माता-पिता तो जैसे स्वप्न देख रहे थे।

मैं मैट्रिक में पहुँच गयी। पढ़ने लिखने में अच्छी थी। अध्यापक मुझसे प्रसन्न रहते और स्नेह करते। लड़के सहपाठी भी मेरे थे। उनमें सबसे अधिक मेरी—(यहाँ एक शब्द लिप गया था।) से पटती। न उन्हें मुझे और न मुझे उन्हें देखे बिना रहा जाता।

योगेन्द्र ने दीर्घ निःश्वास छोड़ कहा—"बड़ी सुन्दर कहानी है कर्नल।

लेकिन यह कौन शब्द लिप गया है ? आनंद किरकिरा हो गया। शायद हम लोग उसे जानते हों।"

वे बोले—"कुछ भी नहीं पढ़ा जाता, क्या बताऊँ ?"

कहानी आगे बढ़ी —

यह क्या पता था कि यही मेरा साथी मेरे जीवन का जीवन और विश्व का महापुरुष होगा।

यहाँ कुछ रुककर योगेन्द्र सोचने लगे। कर्नल उनकी ओर देख रहे थे। परंतु वे कुछ नहीं सोच रहे थे। वे आगे बढ़े—

यदि निर्मल नारीत्व अपना प्रेम, अपना जीवन, अपना मर्म कहीं समर्पण करने के लिए विकल हो उठता है तो वह अंकुर मुझमें भी पनपने लगा था। यदि पुरुष अपने जीवन की पूर्णता के लिये उस समर्पण के परिरंभण को लालायित रहता है तो वह लालसा मेरे साथी में अवश्य हो गयी थी। जैसे कोई खिलाड़ी लट्टुओं को भाँति-भाँति से नचाकर खेल किया करता है, जैसे वायु जल में लहरियाँ उठाया करता है, वैसे ही प्रेम हमारे हृदय के नाना भावों को लेकर नाना अभिनय किया करता। जीवन की प्रशांत सरिता में हमलोग उमंगों के अनुकूल पवन के झोंकों से सुगम नौका की भाँति अपने सुख बहे जा रहे थे।

कालेज में जाने पर भी मुझे वे मेरी अकिंचन सखियाँ भूलीं नहीं और न उसके प्रति मेरा स्नेह ही कम हुआ। वे अब भी नहीं भूली हैं, और न चेतना रहते भूल सकेंगी। प्राणों की धड़कन बन्द होने पर वे मेरे संस्कारों में रह आयेंगी।

कालेज से जब मैं छुट्टियों में घर आती तो उनसे उसी तरह मिलती और उनके साथ रहा करती। गुड़ियों के खेल पर अब भी मेरा वही स्नेह है। मेरी वे सखियाँ अब बाल्य सुलभ स्नेह पूर्ण समानता का सख्य भाव छोड़ मुझसे सम्मान पूर्ण स्वामिनी का भाव रखने लगी थीं। निर्धनता से उद्भूत —मैं इसे ऐसाही समझती थी—उनके इस भाव से मैं बहुत चिढ़ती और कह देती—'तुम लोग मुझसे ऐसा व्यवहार करोगी तो मैं तुमसे कभी न मिलूँगी। हमारे-तुम्हारे बीच जो सखी-सहेलियों के समानता का व्यवहार रहा, वही रहेगा, वही मुझे प्रिय है। अवसर मिलने पर उन्हें मैं पढ़ाया करती।

जब मैं उनके घर जाया करती तो मेरे लिए विशेष पाक की तैयारी होने लगती। मैं उन्हें रोक देती और जो कुछ सामान्यतः तैयार रहता वही खा लेती। रूखा-सूखा भोजन तो था ही, परंतु स्नेह की सरसता उसमें एक अनूठा स्वाद भर दिया करती। अब जब बड़ी-बड़ी दावतों में जाने का अवसर आता है, तो देखती हूँ कि उन सुगंधित, सुस्निग्ध, सुवाष्प-समन्वित विविध व्यंजनों और पकवानों में भी वह स्वाद नहीं मिलता; क्योंकि उनमें अहंकार की रूक्षता और प्रशंसा-प्रलोभ की कुरसता भरी होती है।

मेरी वे सभी सखी-सहेलियाँ मेरे एफ० ए० पास करने के पहले ही मायके से विदा हो गयीं। उन सबको मैंने वस्त्राभूषणों के बहुमूल्य उपहार दिये। परंतु वे अमूल्य उपहार जो उनसे कभी न पृथक हो सकते, मेरे आँसुओं के ही थे। उन सबकी विदाइयाँ मेरे हृदय की कसौटी पर सोने की लकीरों सी पड़ी हैं। वे मेरे हृदय के भूषण हैं। विस्मृति की काली कूँची उन्हें मिटा नहीं सकती, और आँसू से वे निखरे रहते हैं।

छुट्टियों में हम और हमारे साथी देहातों में जाया, ग्रामीणों को भाषण सुनाया तथा उनकी शिक्षा और ग्राम-सुधार की योजनाएँ किया करते।

"हमारे साथी वही हैं सम्भवतः जिसका नाम वहाँ मिट गया था।" योगेन्द्र ने कहा।

कर्नल ने सिर हिला कर उत्तर दिया—जी हाँ।" फिर वे आगे बढ़े—

हमारे अन्य सहपाठी और सहपाठिनियाँ कहा करते—"नेता और नेत्री बनने के लिए ढोंग रचा जा रहा है।" पर इसका भला, बुरा कोई प्रभाव हमारे ऊपर न पड़ता।

हमें हुआ करता, यह आधुनिक शिक्षा कैसी है जो प्रति वर्ष सैकड़ों, सहस्रों नवयुवकों, युवकों को बी० ए०, एम० ए० की डिग्रियाँ दे केवल गुलामी की सनद देती है, उन्हें स्वतंत्र नागरिक, सच्चा जन-सेवक तथा श्रेयस्कर उन्नायक, विधायक बनने और बनाने के बदले केवल गुलाम बनने और बनाने की क्षमता प्रदान करती है! हम दोनों के हृदय ये ही विचार मंथन किया करते। मेरे प्रेमी, मेरे साथी के विचार मुझसे कहीं अधिक उन्नत, ऊष्म, उत्तेजनापूर्ण और सुदृढ़ थे।

वे दिन कितने सुन्दर थे, जब हम दोनों चाँदनी रातों में अनंत ज्योत्स्ना का लोकोत्तर आनंद उठाने अपनी प्रेमतरी पर चन्द्रलोक में चले जाया करते, जहाँ द्वेष, दंभ, स्वार्थ, कपट, हिंसा आदि का नाम तक न था—सर्वत्र प्रेम और प्रकाश था। कितनी शारदीय शुभ्र निशाओं में हम काश-कुसुम-कानन एवं वारि-बालुकाराशि पर शीतल ज्योत्स्ना से ही प्रसरित हो विश्व का शाप-ताप हर लिया करते। सावन की कितनी सघन, भयावह निशाओं को निविड़ निस्तब्धता बन हम सिहर-सिहर प्रभात की प्रतीक्षा किया करते और कितनी सघन घटाओं में समा वायु के झकोरों से झंकृत हो रिमझिम-रिझझि मगाया करते। कितनी बार हेमंत की हिमाकुल विभावरियाँ हमें विश्व की व्यथा पर थर-थर कँपा दिया करतीं। कितनी बार कोयल की काकली से हमारे हृदय द्रवित हो विश्वमरु पर मंदाकिनी-से प्रवाहित हो जाते। कितनी बार पपीहे के 'प्रिय कहाँ' की पुकार सुन हम निविड़ में जा-जा जीवन रहस्य के निगूढ़ द्वार को खटखटाया करते। कितनी बार मयूर-मयूरिनी के साथ हम राधाकृष्ण बन नाचते-नाचते इस विश्व को व्रज में परिणत पा जाया करते। कितनी बार हम पतझर के सूखे अधरों से, खण्डहरों के क्षत-विक्षत करुण क्रोड़ों से ठूँठों, के निविड़ नैराश्य से जीवन का सत्य इतिहास हृदयंगम करलेते—गंगा के गर्भ से रामायण का मूल काण्ड पा जाते।

हम लोगों ने कभी एक दूसरे को परखना न चाहा और न स्वयं परीक्षोत्तीर्ण होने की तैयारी की। हम अयास लहरों से उठते, उमँगते और बहते रहे। हम एक दूसरे के असीम बल, संबल और साहस रहे और हैं। वह दिन अभी कल बीता है जब नदी में नाव डूबने से हम दोनों बह चले। दूर आकर मैं खार में डूबने लगी। वे मेरे मना करने पर भी अपने प्राणों की बाजी लगा मेरे प्राण बचाने लगे। "मेरे प्राण तो जाते ही हैं, तुम क्यों···?" वे वेग से बढ़ते हुए बोले--"दो प्राण कहाँ? और जब वह बिजली गिरी! मैदान में भींगते हुए आ रहे थे हम लोग। मुझे प्राणो में लिपटा लिया।

योगेन्द्र रुक कर सोचने लगे। कहानी उनकी और सविता की कहानी से बिल्कुल मिल रही थी। कर्नल ने कहा--"नेता जी, कुछ घटनाएँ तो ठीक ठीक आप और सविता देवी की कहानी से मिल रही हैं।"

यो०—कुछ नहीं सब कर्नल !

क०—सब कथानक मिलता है ! किसी की कहानी ठीक-ठीक दूसरे की कहानी से मिल जाना असंभव नहीं भी हो सकता; परंतु प्रतीत होता है ऐसा ही और प्रायः होता भी ऐसा ही है। यह अगर सविता देवी की कहानी है तो बड़ी खुशी है। लेकिन मेरे इन मरे हुए मित्रों ने इसे कैसे पाया, कुछ पता नहीं। मैं तो कुछ पूछ भी न सका।

वे पढ़ने लगे—

हम लोग एम० ए० पास हो गये। पर्दा बदला। जीवन का जटिल क्षेत्र सामने आया। जिसे मैंने जीवन का साथी बना लिया, जो मेरी प्रवृत्ति में, मेरी प्रकृति में, मेरे प्राणों में, मेरे प्राणों में—सर्वत्र रम गया था, उससे मेरे पिता जी कोसों दूर रहना चाहते थे। जीवन के बृहत् क्षेत्र में मेरे साथी के उतरने की बृहद्योजना ने उन्हें उनसे बिल्कुल विरुद्ध कर दिया। परंतु हम लोग जो बँधे वह फिर छूटने के लिए, टूटने के लिए नहीं। मुझे विश्वास था कि पिता जी कभी न कभी अपनी असहमति को सहमति के रूप में देखना चाहेंगे।

मैं एक रात में अपने प्रेमी की कहानियाँ पिता जी को दिखा रही थी।··· ··· ··· वे उठकर चल दिये। पिता जी भी उठ गये। मैं अपने प्राणों को मनाने चली।

४०

इधर देश में साम्प्रदायिक झगड़े बड़े जोरों पर थे। जहाँ दोनों पक्षों के लोग हों, वहाँ किसी भी समय, झगड़े का प्रारम्भ हो जाना सहज था। यह क्षण शांति का है, दूसरा अशांति का! एक ही गली से दोनों जा रहे हैं, एक ही दूकान से सौदा खरीद रहे हैं, एक ही सिनेमाहाल में सिनेमा देख रहे हैं, एक ही आँसू रो रहे हैं, एक ही हँसी हँस रहे हैं—;परंतु एक दूसरे के खून पीने में देर नहीं! कैसी दानवता है, कैसा दुर्दिन है—राही अपनी राह चला जा रहा है; उससे किसी से कुछ झगड़ा नहीं, उसे कोई आशंका नहीं—,परन्तु उसके पेट में छुरा भोंक दिया जाता है और वह वहीं एक चीख मार चल बसता है। देश क्या था, यमपुरी की नाक काट रहा था—गर्मी की लू में लहू की लाली लहलहा रही थी! पावस की झड़ियों में शोणित की झहरें झहरा रही थीं! शिशिर के कंपन में हताहतों के कंरन हो रहे थे! साँसें मृत्यु की ठंढी साँसें और पर्व खून के पौवारे हो रहे थे!

खान साहब, अपने प्राइवेट कमरे में, जिसे उनका आफिस कहना चाहिये, बैठे थे। जितेन्द्र, आजाद तथा अन्य नेताओं के जो पत्र प्रेम के, स्नेह के, समझौते के आये थे, वे गर्द से ढँके हुए एक क्षुद्र स्थान में फेंके पड़े थे जिन्हें प्रेम-हार-सा हृदय पर लटकने चाहिये। थे उनके उत्तर दिये जा चुके थे—फूलों का स्वागत शूलों से किया जा चुका था।

आज एकांत में एक विचित्र ट्रेजेडी का फिल्म उनकी आँखों के सामने से गुजरने लगा! उन्होंने जो कुछ किया था—बलवे, षड्यंत्र, दुष्परामर्श—सब सामने आ रहे थे और उनके फल स्वरूप खून की नदियाँ बह रही थीं, भीषण चीत्कार हो रहा था, घोर वीभत्स आँखों के सामने फैला था और वे इस नाटक के सूत्रधार हो सारा अभिनय देख रहे थे। उन्होंने यह भी देखा कि कांग्रेस तथा देश जिसके अन्न-पानी से वे पले थे, उनकी ओर घृणा, ग्लानि, करुणा की दृष्टि से देख रहा था। आज उन्होंने भारत माता को भी देखा जिसके विच्छेद

को वे महा भीषण अस्त्र ले खड़े थे। वे सम्भ्रान्त एवं पूत भय से काँप उठे। सरकार उनका स्वागत कर रही थी, उनकी जय बोल रही थी, परंतु उसके निगूढ़ में वे घोर कुत्सा का अनुभव कर रहे थे। वे फिर काँप उठे। जाग्रत अवस्था में आने की चेष्टा कर ही रहे थे कि कयामत लोक से आकर किसी पैगम्बर ने कहा—"थर्रा क्या रहा है, तुझे एक एक गुनाह का जवाब देना होगा। विष की अनियाँ तेरे कलेजे में चुभायी जाएँगी। एक-एक बूँद कर तेरा रक्त निकाला जायगा। मांस खाने वाले राक्षस तुझे जीते जी नोच-नोच कर खा जायेंगे···।"

फिर कराल काली आकृतियाँ—वे ही जो उनका रक्त निकालतीं और नोच-नोच कर खातीं—उनके सामने घूमने लगीं। यमदूतों से इस प्रकार घिरे हुए वे थर-थर काँपने लगे और डगमगा कर कुर्सी से गिर पड़े। सिनेमा समाप्त हो गया, परंतु फिर भी वह समाप्त न हुआ। किसी तरह बाहर आये। जान तो जैसे बच गयी, लेकिन अब भी डर से शरीर काँप रहा था। साहस बटोर कर उस भय पर विजय पाने का विकट प्रयत्न करने लगे—गर्दन ऊँची की, अंगों को फड़काया और दो-चार बार बेहँसी की हँसी हँसी।

उसी समय उनका कोई दोस्त मिलने आ रहा था। निकट आकर जब उसने बन्दगी अर्ज की तो वे चौंक पड़े और विकृत कृत्रिम स्वर में बोल उठे—आदाबर्ज! आइए, आइए। खैरियत तो है?"

"इनायत है। लेकिन आज यह हो क्या गया है आपको? ऐसा उतरा हुआ चेहरा आपका कभी न देखा था। आप अपने अंगों में जवानी की फड़क आजमा रहे थे? अकेले हँस रहे थे—बात क्या है खान साहब?"

लज्जा और झेंप की हँसी हँस वे बोले—"कुछ तो नहीं! भई, जवानी ऐसे क्यों आने लगी। एक बात पर हँसी आ गयी। चाय पी लीजिए फिर टहलते हुये बातें होती रहेंगी।"

× × × ×

जहाज वाली घटना दब न सकी, पुरानी न हो सकी। सनसनी और उत्तेजना बढ़ती ही गयी। साम्प्रदायिक दंगे भी उसे भुलवा न सके। जनता देशव्यापी विप्लव के लिये सन्नद्ध हो गयी। वाइसराय किसी प्रकार परिस्थिति वश में न कर सके। उन्होंने सकुशल विलायत लौट जाना चाहा, परंतु न हो सका।

अब उन्होंने अपनी रक्षा का एक उपाय सोचा : खान साहब जो सभी उपद्रवों के मूल में हैं क्यों न पकड़ लिये जायँ और उन पर क्यों न अभियोग चलाया जाय ?

क्या वे अपने हृदय के हृदय में उन्हें प्यार करते थे ? कदापि नहीं। करते भी रहे हों किसी प्रकार कुछ तो अब नहीं, तृणमात्र भी नहीं। कोई अप्रेम का प्रेम कब तक और कैसे कर सकता है ? अब उनमें कांग्रेस के प्रति सहानुभूति का उदय होने लगा। देश तथा विश्व कल्याण के लिए अपना सर्वस्व होम देने वाले शांत कर्मठ योगियों ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया और वे उन्हें प्रेम तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। कोई प्रेम का अप्रेम कब तक और कैसे करेगा ? इस काया-पलट के लक्षण उनमें विशिष्ट रूप से तब से आने लगे जब से उनकी श्रीमती अस्वस्थ हुईं। उनका रोग साधारण न था। वे यम का द्वार देख कर लौटीं। वे सहृदय थीं। उनसे नेता तथा नेत्री जी की भेंट हो चुकी थी। कांग्रेस का इतिहास जो उन्होंने उन्हें उपहार दिया था, वे आज कल पढ़ रही थीं। दुख के अंधकार और दुर्दमता से हमारी आँखों का प्रकाश इतना बढ़ जाता है कि हम जगत् और जीवन को उसके सच्चे रूप में देखने लगते हैं, 'हमारा हृदय इतना फैल जाता है कि हम सबके हृदय को छू लेते हैं, सबके हृदय में समा जाते हैं; परंतु सुख की चकाचौंध और सरसता में हम अंधे और पाषाण हो जाते हैं।

वाइसराय ने खान साहब की सारी व्यवस्था लिख पार्लियामेंट से उनके प्रति उचित कार्यवाही करने की अनुमति प्राप्त कर ली। यों तो उन्हें सब कुछ अधिकार था ही।

वाइसराय के शाही बँगले के सामने वाले पार्क में अभी-अभी जल का छिड़काव हुआ है। गमलों के फूल-पत्ते भी सिंचे जा चुके हैं। उससे सुन्दर-सुन्दर सुगंध निकल वायु-मण्डल को भर रही है। वेल्वेट के हरे-हरे सुन्दर झिलमिलीदार चिक दरवाजों पर मन्द वायु से लहरा रहे हैं। फूलों की पँखुड़ियाँ, पौधों के पत्ते, हरी-हरी घासें धीरे-धीरे हिल रही हैं, मानों सुन्दर कविता के भाव में मग्न हों। बँगले के हृदय से निकलने वाला निःश्वास किसी प्रेमालिंगता प्रेयसी के हृदयोच्छ्वास-सा सुशीतल और संतुष्ट है।

खान साहब गेस्ट रूम में मखमली गद्देदार जड़ाऊ कुर्सी पर बैठे पाइनियर पर निगाह दौड़ा रहे थे। कभी उँगली लगा, कभी वैसे ही सिगार का कश लगा लिया करते। अब उनके जीवन का पतझार चल रहा था आँखें धँसी और ठोकरें बैठी जा रही थीं। दर्शक की प्रथम दृष्टि उनकी बड़ी-सी नाक पर ही पड़ती थी, जो उनके मुख-मण्डल में सबसे प्रमुख वस्तु थी। चेहरे और शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। शरीर झुक कर धनुषाकार हो गया था। ढीली मुँहड़ी का पायजामा, अचकन और चोटी वाली टर्की टोपी सिर पर थी। जब अंग्रेजी सूट में रहते तो हैट लगाते। चेहरे में घोर हिंसा, हठधर्मी, कूट-नीति तथा तुच्छता से भरे हुए अहंकार का गहरा भाव भरा था।

अर्दली ने उनके शुभागमन की सूचना दे दी थी। थोड़ी ही देर में बँगले के भीतर से सुगंध में सनी हुई श्रीमान् और श्रीमती वाइसराय की आकृतियाँ बाहर निकलीं। खान साहब से हाथ मिला बाहर पार्क में कुर्सियों पर बैठा वे बातें करने लगे। बँगले में बिजली जलने अर्थात् उस आकाश में तारों की जगमगाहट होने के देर बाद खान साहब अपने बँगले को लौटे।

जब खान साहब खाना खाकर सोनेवाले कमरे में अपने कुछ दोस्तों के साथ बैठे थे तो इग्यारह बज रहे थे। शतरंज शुरू होने जा रहा था। तब तक एक कार की दबी-सी आवाज सुन पड़ी। कार उनके ही बँगले की ओर आ रही थी। सदर फाटक पर आ वह रुक गयी। छः सिपाही और एक कोई बड़ा अफसर पुलिस यूनीफार्म में गाड़ी से बाहर निकले। वे थे पुलिस कप्तान। देखते-देखते वे कमरे के दरवाजे पर जा पहुँचे। कप्तान ने उन्हें एक कागज दिखाते हुये कहा—"खान साहब! आपके नाम यह वारंट है। अब आप अपने को पुलिस की हिरासत में समझिये।"

किसी ने ऐसा आश्चर्य न सुना था, न देखा था, न उसकी कल्पना की थी। जैसे लोग स्वप्न देख रहे हों, जैसे कोई स्वांग रचा गया हो। खान साहब को वारंट! खान साहब की गिरफ्तारी! धरती पैर के नीचे से खिसक गयी होती, आसमान का घेरा ऊपर से हट गया होता तो कदाचित् ऐसी अनहोनी पर विश्वास होता। किसी ने पूछा—"कैसा वारंट!" उत्तर मिला—"वारंट

गिरफ्तारी ।" परंतु अब भी किसी को विश्वास नहीं हो रहा था । खान साहब ने आवेश के साथ पूछा—आप कौन अफसर हैं ?

अफसर—"पुलिस कप्तान ।"

खान साहब—आपका दिमाग ठिकाने है ?

अ०—बिल्कुल ।

खा०—हमारे नाम वारंट ?

अ०—जी हाँ, आपके नाम ।

खा०—क्या आपको पता नहीं कि अगर मैं आपको भी गोली से मार दूँ, तो भी वारंट नहीं निकल सकता ?

अ०—आपको इतना याद रहना चाहिये कि यह सरकार नवाबी नहीं है । जल्द तैयार हो जाइये ।

खा०—मैं अभी वाइसराय से मिलने जा रहा हूँ ।

अ०—नहीं, आपको अभी मेरे साथ चलना होगा ।

खान साहब से अब न रहा गया, आपे से बाहर हो गये । झट बन्दूक की ओर हाथ बढ़ाया । तब तक अपने अफसर के इशारे से अपने तमंचे सीधे कर सिपाहियों ने आगे बढ़ उन्हें पकड़ लिया । उन्हें पुलिस कार में बैठ तुरंत रवाना हो जाना पड़ा ।

× × × ×

के० जी० जीनियल साहब जब कमीशन की जाँच की जाँच करने आये थे, कांग्रेस कार्यालय में भी पधारे थे । वहाँ उन्हें कांग्रेस का इतिहास उपहार में दिया गया था । वे पार्लियामेंट के एक प्रमुख सदस्य थे । उनका प्रभाव सभी दलों पर था । वह पुस्तक अब वे सावकाश हो पढ़ रहे थे । रात को दस बजे से एक बजे तक उनका पारायण होता । जैसे प्रेमी पाठक अच्छे उपन्यासों तथा अन्य सुंदर ग्रंथों के सत्पात्रों के सुख-दुख में अपने को भूल जाते हैं, वैसे ही वे भी । उस उज्वल प्रासाद के भीतर बिजली की रोशनी में न जाने कितनी पुस्तकें पढ़ी जा चुकी थीं, परंतु किसी ने भी अपनी कहानी से पाठक के हृदय में ऐसा आन्दोलन नहीं उठाया था, उसके मर्म को इस प्रकार स्पर्श नहीं किया था, उसकी जीवन-धारा को इस प्रकार मोड़ने की सामर्थ्य नहीं रखती थी ।

कांग्रेस पर पुलिस के जो-जो अत्याचार हुये थे—जैसे उन पर लाठी चार्ज किये गये थे, गोलियाँ बरसायी गयी थीं, जेलों में सासतें की गयी थीं और सब कुछ जैसे वह शांतिपूर्वक सहन करती आ रही थी—ये सभी कथाएँ और कथानक आँसू पोंछ-पोंछ, आहें रोक-रोक पढ़े जा रहे थे। वह सचित्र पुस्तक उन्हें सिनेमा का काम दे रही थी।

हिज मैजेस्टी के हर्म्य में ही एक इंटरव्यू में उन्होंने उस पुस्तक की चर्चा कर दी और उसे स्वयं पढ़कर उन्हें सुनाने की उनकी स्वीकृति ले ली। पुस्तक पढ़ी जाने लगी। उन्होंने देखा कि देश की वास्तविक व्यवस्था से वे कितने अपरिचित थे। जैसे उनकी आँखें खुल गयीं। कोई भी जो उसे अथवा वैसे ग्रंथ को निष्ठापूर्वक पढ़े तथा सुने और उससे अप्रभावित रह जाय, अमानव है, हृदयहीन है।

जीनियल साहब ने एक नवीन वातावरण उत्पन्न कर दिया। उनके द्वारा भारत ने वहाँ की पार्लियामेंट तथा जनता के हृदय को स्पर्श कर लिया। भारत की स्वाधीनता का प्रश्न प्रत्येक हृदय का द्वार खटखटाने लगा।

४१

कर्नल ने उस पर्वतीय गुफा को गृह का रूप दे दिया। दो एक साथरियाँ, टूटे-फूटे पात्रों में कुछ जल और कुछ फल रख दिये। देवदारु की लकड़ी दीपक जलाने के लिए रक्खे रहते। जाड़े में दो एक साथरियाँ ओढ़ने के लिए भी तैयार कर ली थीं। संक्षेपतः उस गुफा-गृह में एक छोटी-सी गृहस्थी सजा दी।

एक दिन नेताजी ने कहा—"कर्नल तुमने तो इस गुफा में एक गृहस्थी सजा दी। तुम कितने उदार कितने सहृदय, कितने विनोद प्रिय हो!

क०—मेरे प्रति आपका स्नेह मेरे स्वल्प गुणों को ऐसा वृद्हरूप देता रहता है कि मैं क्या बताऊँ। अच्छा यह तो बतलाइए यदि सविता देवी न मिलीं और हम लोग देश के दर्शन फिर पा सके तो आप को अपनी संतान के रूप में एक अमूल्य वसीयत देने के लिए विवाह तो करना ही होगा?

यो०—यह नहीं हो सका तो अब उसकी आवश्यकता नहीं। तुम लोगों की संतानों की वसीयत उतनी ही मूल्यवान होगी। अब मैं विवाह नहीं कर सकता।

क०—तो फिर मेरे जैसों का व्याह क्या नेता जी?

यो०—एक विवाह तो करना ही होगा। मेरे समान होकर फिर न कर सकोगे।

क०—आपको भी करना ही होगा नेता जी, और एक ही मुहूर्त्त में।

उस दिन टहलते हुए दोनों बहुत दूर निकल गये। आज कुछ नये-नये दृश्य देखने में आ रहे थे। पानी के बड़े सुंदर-सुंदर कुंड मिले जिनमें पाटल और पारिजात के पुष्प नन्हीं-नन्हीं तरियों-से तिर रहे थे, और उन पर मानो पारीरानी के हृदय का मोद जल-विहार कर रहा हो। योगेन्द्र ने कहा—"कर्नल! जी चाहता है इनमें देर तक स्नान करूँ। आओ तुम भी मेरे साथ स्नान करो।"

कर्नलने कहा—"मेरा भी जी यही चाहता है, लेकिन अभी मेरा स्वास्थ ठीक नहीं है।"

इस कक्ष में देवदारु और भोजवृक्ष बहुत थे। एक वृक्ष न जाने किसका बड़ाही सुंदर था। उसकी पत्तियों में एक विचित्र सौंदर्य था। उन लोगों ने देखा कि उसमें गोले-गोले फल लगे थे। जलीय वायु का एक झोंका आया और वे फूलों के रूप में खुल पड़े, खिल पड़े, मानो प्रेम की अनंत कलियाँ घूँघट में मुख छिपाए हों और उन्हें देख एक साथ हँस पड़ी हों, मानो तरु हृदय के मूक भाव उनके अभिनंदन में एक साथ मुखरित हो पड़े हों।

वे साश्चर्य देखते रहे। कर्नल ने कहा—"कहीं कहीं पुरानी कहानियों में ऐसी बातें मिलती हैं।"

वहाँ से कुछ ही आगे बढ़े कि एक और वृक्ष मिला। उसमें भी कुछ विचित्र सौंदर्य था। यह नहीं कहा जा सकता कि वह वृक्ष अधिक सुंदर था या यह। उनमें अपना-अपना अनूठापन था। इसके फूल खिले थे, उसकी तरह बन्द नहीं थे। वैसे ही वायु का एक और झोका आया। लो, उन सभी फूलों ने एक साथ आँखें मुँद लीं। वे भी वैसे ही फलों से हो गये। उसके फूल लाल के रंग के थे, इसके मरकत के रंग के।

"इन्होंने तो मुग्धाओं की तरह आँखें मूँद हमारे मनों को बाँध लिया, जैसे कमल संध्या समय अपने कोड़ों में अलियों को बाँध लेते हैं।" कर्नल ने कहा।

"विश्व का असार वैभव देख यतिवर आँखें बन्द कर अन्तर्मुख हो गया।" हँसते-हँसते योगेन्द्र ने कहा।

"आप तो निवृत्ति की ओर चले जा रहे हैं।"

"और तुम प्रवृत्ति की ओर। अच्छा ही है। हम तुम एक हृदय हैं। प्रवृत्ति, निवृत्ति एक होकर कल्याण की सृष्टि करेगी।"

कर्नल ने कड़ी मिट्टी की गोलियाँ और एक गुलेला तैयार कर लिया था। वे अचूक लक्ष्यभेदक थे। वे वहाँ बैठे बातें ही कर रहे थे कि एक बाज तोते पर झपटा। वह आकाश में इधर-उधर न जा सका और नीचे ही की ओर झुका। वह आकर नेता जी की गोद में चू पड़ा, मानो वह उनकी असीम उदारता

जानता रहा हो। परंतु वह इस उदार अंक में न आ पाता, यदि कर्नल ने अपनी गोली के निशाने से शिकारी के पंख का कुछ अंश न उड़ा दिया होता।

क्या खूब कह कर नेता जी ने कर्नल का मुख चूम लिया। फिर बोले—"मैं नहीं जानता था कि तुम ऐसे अचूक निशाने लगाते हो। क्या पुरस्कार दूँ तुम्हें ?"

क०—जो मैं मागूँगा।

यो०—अभी माँगो।

क०—मेरा वरदान थाती रहेगा।

सुआ अभी उनकी गोद ही में पड़ा था। वह भय से इतना आक्रांत हो गया था कि उसके प्राणों का पूर्ण प्रस्फुरण अब तक न हो पाया था। अब उन्होंने देखा कि उसके कण्ठ में काले धागे में लपेटा हुआ एक कागज बँधा था। वे बोले—"कर्नल ! यह देखो।"

"यह तो किसी का पत्र है। पुरानी कहानियों की आवृत्ति हो रही है हम लोगों के सामने।"

खोल कर देखा तो ज्ञात हुआ कि वह पत्र ही है, और उन्हीं के नाम। अनोखेराय की विधवा और उनके छोटे बच्चे ने नेता तथा नेत्री जी को लिखा था—

श्रीचरणों में नमस्कार,

हम नहीं जानते आप लोग कहाँ और कैसे हैं ? स्वर्ग में हों तो हमारी श्रद्धाजलि चरणों पर समर्पित हो। संसार में हों तो हमारी आयु आप लोगों को मिले। यह छोटा-सा पत्र—यह छोटा-सा उच्छ्वास आप लोगों तक पहुँच सकेगा, इसकी केवल संभावना मात्र है—जूए के दाँव से भी अनिश्चित है। यह बालक दिन-रात आप लोगों की रट लगाये रहता है। आप के प्रिय जितेन्द्र जी हमें मरने नहीं देते। देश घोर संघर्ष से पीड़ित है। वह आप को असंख्य स्वरों में पुकार रहा है। एक बार आप के दर्शन हो जाते।

दिवंगत अनोखेराय की
शेष स्मृति।

उनकी आँखें छलछला गयीं। नेताजी ने गीले स्वर में कहा—"हमारे लोग

हमें किस सच्चे अनुराग से स्मरण करते हैं। हम उनकी सेवा नहीं कर पाते! कैसा दुर्भाग्य है!"

कर्नल ने आँखें पोंछते हुए कहा—"इसी के कण्ठ में पत्र का उत्तर भी बाँध दिया जावे। संभव है ऐसे ही दैव-संयोग से यह पत्र भी उन्हें मिल जाय।"

रात को योगेन्द्र के शरीर में पीड़ा होने लगी। कर्नल ने पूछा—"तबियत कैसी है?"

"कुछ पीड़ा है, अच्छा हो जायगा।" उन्होंने कहा। कर्नल धीरे धीरे उनकी देह दबाते हुए बोले—"थकावट की पीड़ा है, दबाने से अवश्य आराम होगा।"

जो आँसू कर्नल की आँखों में भर आये थे वे पोंछने के पहले ही अपने नेपथ्य में समा गये। परंतु नेता जी ने उन्हें देख लिया और कहा—"मेरी तनिक-सी भी अस्वस्थता में तुम इतने व्याकुल हो उठते हो! मेरे कर्नल! देखो मैंने क्रांति की है, और शांति पाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति ऐसा करता है, चाहे वह जाने या न जाने। मैं शांति चाहता हूँ, समता चाहता हूँ, संतुलन चाहता हूँ। जो कुछ मैंने पाया है तुम जानते हो। जिस विधान ने हमें यहाँ भेजा है, वह भी हमें हमारे लक्ष्य की ही ओर ले जायगा। देखते नहीं हो जो कुछ अपना हुआ जा रहा है? हमें अपनी क्रांति में घोर से घोर विभीषिकाओं का, संकटों का स्वागत करना चाहिये।"

देवदारु की बत्ती जल रही थी। वायु पत्तों पर, काकली, गुंजन, 'पिय कहाँ' कोयल, भ्रमर तथा पपीहे के हृदय में और लहरें भी सिहर-सिहर सागर के क्रोड़ में सो रही थीं। परंतु कर्नल योगेन्द्र के शरीर पर धीरे-धीरे हाथ फेरते एकटक उनकी ओर देख रहे थे। उनकी आँखें जब-जब खुल जातीं वे उन्हें उसी अवस्था में देखते। आधी रात के बाद जब उनकी आँखें खुलीं तो उनके गले में बाहें डालते हुए उन्होंने कहा—"अब मुझे अच्छा है कर्नल! मेरे क्रोड़ में अब तुम भी सो जाओ।"

उसी क्रोड़ में जहाँ विश्व अपनी व्यथा भूल जाता है, कर्नल ने भी नींद के, प्रेम के मधुर मादक में आँखें मूँद लीं।

× × × ×

जाड़े की रात कहर कर रही थी। तुषार से भरी उसकी ठंढी-ठंढी साँसें कन्द-

मूल का भोजन करने तथा पत्ते की साथरी ओढ़ने-बिछाने वाले अस्थिमात्र प्राणियों को थर-थर कँपा रही थीं।

नित्य कृत्य से निवृत्त होकर एक शाल्मली वृक्ष के नीचे कुछ धूप और कुछ छाया में वह 'मेरी कहानी' उस दिन के आगे आरंभ हुई—

चाँदनी रात थी। मैं दौड़ चली। कुछ दूर जाकर उन्हें पाया। जब तक पाया न था वह चटक चाँदनी भी मेरे लिए निबिड़ अँधियारी हो रही थी। मैंने कहा—"यह क्या था ?" वे बोले—"फिर मिलता।"

देर तक हम लोग एक दूसरे को देखते खड़े रहे। वे अपनी अंगूठी उतारने चले, पर रुक गये। मैंने कहा क्यों ? उन्होंने अपनी अँगूठी मुझे पिन्हा दी और मेरी अपने पहन ली। फिर मुझे अपने क्रोड़ में भर मेरे कपोलों पर एक, दो, तीन चुम्बन दृढ़ता से अंकित कर दिये। मेरा समग्र अस्तित्व प्रेम के अंतराल में निमग्न हो गया। जो कुछ मैं चाह रही थी और जानती न थी, वह मिल गया। मैंने जाना निर्वाण क्या है ? पाषाण की जड़ता जैसे चैतन्य अहिल्या में परिणत हो गयी। मैंने नूतन जीवन का नूतन स्पंदन पाया, जिसमें कर्तव्य का महान् उत्तरदायित्व था, जिसे प्रेम ने सरस, सुकर और सहज कर रक्खा था।

योगेन्द्र ने कहा—"रुको कर्नल।"

वे रुक गये। नेता जी की ओर देखा। उनकी मुद्रा कैसी उदास थी।—जैसे कोई महल खंडहर हो गया हो; सघन रसाल का पतझर गया हो; उत्सव सदन से सारे राग-रंग और पाहुने बिदा हो गये हों।

परंतु उसमें—उस निराशा और परिताप भरी नीरवता में आशा, साहस एवं धैर्य की एक विचित्र आस्था थी।

कर्नल ने उसे भी देखा। वे बोले—"क्या यहाँ भी कहानी सविता देवी की कहानी से टकरा गयी है ?"

"टकराने की कहते हो। अक्षर-अक्षर मिल रही है ! खैर आगे चलो।"

कहानी आगे बढ़ी—

मैं भी उनके साथ ही जीवन क्षेत्र में उतरी, परंतु ऐसे जैसे नदी के दो किनारे जो एक ही जल भरे हुए, एक ही लहरों से विचुंबित हुए, एक ही वायु से आलिंगित हुए मिल न सकते हों। यह समझकर कि एक विशाल

सैनिक शक्ति इस विशाल राष्ट्र की रीढ़ बनी हुई है, मैंने उसी को हिलाना चाहा। जो जाग्रति देश में पैदा की जा रही थी वही मैं उन सैनिकों में पैदा करना चाहती थी जो मरने मारने के यंत्रमात्र बन गये थे।

... ...

... ...

ल हो गयी। (बीच की पंक्तियाँ और अक्षर लिप गये थे।)

योगेन्द्र ने कहा—"कर्नल ! पंक्तियाँ और अक्षर लिपे जाकर सारा आनंद किरकिरा कर देते हैं। तुम इन्हें पूरा कर सकते हो ? यहाँ क्या लिखा था ?"

"आप से अच्छी पूर्ति मैं कर सकता हूँ नेता जी !"

वे आगे बढ़े—

जो विश्वास मैंने राष्ट्र के एक कर्मचारी के पद से उस पर स्थापित किया उससे उन निगूढ़ स्थानों में भी मेरा प्रवेश होने लगा जहाँ—(यहाँ के अक्षर लिप गये थे।) इसके सबसे बड़े जानकार ने मुझे उनका बनाना भी बता दिया। परंतु उसकी ऐसी कृपा का कारण तो यह था कि वह मुझसे ब्याह करने की आशा में था। मेरा कुछ भेद भी केवल उसे ज्ञात था।

मेरा परिचय फिर जापानियों से हुआ। उनलोगों ने मेरा विश्वास किया। बरमा में ... ...

... ...

... ...

... ... (ये पंक्तियाँ लिप गयी थीं।) में ही रही। वहाँ ... जी ... फसर और सलाहकार ...। (यह सब लिपा था) वहाँ कुछ लोगों से मेरी घनिष्ठ मित्रता रही। जापान पहले भारत के लिए नहीं, अपने लिए लड़ रहा था। परन्तु उसमें (लिपा हुआ) सच्ची सहानुभूति जगायी परन्तु होना था कुछ और और हो गया कुछ और : सारा नक्शा बदल गया। अपने देश के सैनिकों की नूतन प्रवृत्ति, नूतन जागृति ... ... (ये शब्द लिप गये थे।)

मेरी एक रात ! ओह वही एक रात। यह घटना कुछ पहले की है, परन्तु लिखती हूँ, यहाँ, कुछ भूल से। मैंने सुना कि पिता जी कुछ अस्वस्थ हैं। वह

समय विकट था। उसका क्षण-क्षण मेरे लिए अमूल्य था। वे वैज्ञानिक जो मुझे ···(लिपा हुआ) बनाना बता रहे थे, शीघ्र विलायत जाने वाले थे। बस अंत की थोड़ी बातें शेष रह गयी थीं। परन्तु पिता जी के स्नेह का जो आकर्षण हुआ वह (लिपा)···म-निर्माण-ज्ञान-लोभ से क्यों विकर्षित हो पाता। मैंने छुट्टी ली। उन्होंने मुझे शीघ्र लौटने को कहा और कहा विलंब होने पर मुझे कोई दोष न देना।

मैं घर पहुँची। परन्तु वहाँ कोई न था। किसी से कुछ सही पता न चला। पहले तो मैं अमंगल के भय से काँप उठी। पर पता चला वे कहीं चिकित्सा कराने गये हैं। शायद तुरन्त प्रोग्राम बना और तुरन्त रवाना हो गये। वहाँ से निराश हो मैं पगली-सी, दीवानी-सी चली, जैसे बिना संचालक का इंजन। दूर आ अनजाने अपने गृह के पास निकल पड़ी—उस गृह के पास जिसमें पूरा एक दिन भी न रह सकी थी। मैं अकस्मात् देख ली गयी। दीदी ने मुझे पुकारा। मैं सन्न हो गयी। देखा तो वही अपना घर। सुख और दुख, हर्ष और विषाद का ऐसा संघर्ष मैंने कभी न देखा था। मेरे प्रियतम भी थे। दीदी ने मेरी सुहा ··· ··· ··· ··· ···

··· ··· ··· ··· ···

··· ··· ··· ··· ··· (ये अक्षर और पंक्तियाँ लिप गयी थीं।)

योगेन्द्र यहाँ बहुत असंतुष्ट हो उठे। कदाचित् यह स्थल अतीव मर्म-स्पर्शी था।

कर्नल ने कहा—"ऐसा लगता है कि सामने रक्खे हुए थाल से कोई रह-रह कर सुंदर, सुस्वाद खाद्य निकाल लिया करता है।"

योगेन्द्र कर्नल की ओर देख कर बोले—"तुम्हें तो आँसू आ गये थे।"

क०—कहानी कुछ ऐसी ही है नेता जी।

यो०—परंतु ऐसा लगता है कि तुम मुझसे अधिक समझ रहे हो। मेरा आश्चर्य तो कुछ समझने ही नहीं देता ··· बिल्कुल सविता की कहानी!

कहानी आगे बढ़ी—

दूसरे दिन विदा होते समय मुझे ज्वर आ गया और मैं कई दिनों तक

बीमार पड़ी रही। मेरी अस्वस्थता से जो कष्ट उन्हें और दीदी को था उसके ध्यान मात्र से हृदय काँप जाता है। जिस दूसरे दिन मैं लौटने वाली थी उसी दिन वैज्ञानिक महोदय को विलायत लौट जाना पड़ा।

रुक कर योगेन्द्र ने लंबी साँस ले कहा—"यह कहानी सविता की है कर्नल ! इसमें कुछ भी संदेह मैं क्यों करूँ"""और क्यों तुम करने देते हो ?"

"सविता देवी की कहानी है तो कितनी खुशी है। मुझे कुछ आश्चर्य होता है सो होने दीजिए। आप खुशी-खुशी मान लें।"

कहानी आगे चली—

जो थाती स्वामी से पायी थी उसे सुरक्षित रखने में, सँभालने में क्षीण परिस्थितियों ने मुझे महा कष्ट दिया। परंतु इसी से तो स्त्री को माता का सर्वोच्च अलौकिक पद और अपार सुख भी प्राप्त होता है। घर दो चार दिन घर रहता तो महीनों वीरान जंगल। और मुझे अभी गुप्तवास ही करना था। इन्हीं परि-स्थितियों में प्रसवकाल आ गया। बाल्यकाल की एक सहेली की ससुराल वाले मकान के समीप मैंने एक खाली मकान ले लिया और उसी में रहने का निश्चय किया। परंतु मैं नहीं जानती थी कि वही मकान मेरी सखी का है। मैंने सारा भार अपने ऊपर लेना चाहा। मेरा कैसा पागलपन था !

मैं प्रसव-पीड़ा से कराह रही थी। उन दीवालों और गृह के छोटे से आकाश के अतिरिक्त मेरी आह-कराह कौन सुनता था ? हाँ, वह तो अवश्य ही सुनता रहा होगा जिसे कोई नहीं देखता, कोई नहीं समझता और वह सबको देखता, समझता है।

उस मकान को बहुत दिनों के बाद शायद मैंने ही आबाद किया था। मेरी सखी यह देखने उसमें चली आयी कि उसका पड़ोसी होने कौन आया। उसे उसी अदृष्ट द्रष्टा ने भेजा। मुझे उस अवस्था में अकेली देख वह विस्मय की प्रतिमा हो गयी। जैसे मुझे वह पहचान कर भी नहीं पहचान रही थी, देख कर भी नहीं देख रही थी, समझ कर भी नहीं समझ रही थी। मैं कुछ कहने में असमर्थ थी, हाथ का इशारा किया। वह छल-छलायी हुई आँखों से मेरे पास बैठ बोली—"दीदी, यहाँ अकेली इस अवस्था में""" ? मैंने सिर हिलाकर हाँ कहा। वेग से उमड़ते हुये अनेक प्रश्नों पर धैर्य का कपाट लगा वह मेरा

उपचार करने लगी। मुझे तुरंत लाभ हुआ। पुत्र का जन्म हो गया। वह मेरी अटूट सेवा करती रही। वह न होती तो मुझ पर कैसी बीतती, इसका ध्यान अब भी मेरे अस्तित्व को हिला देता है। बहुत दिनों तक बच्चे का लालन-पालन वहीं होता रहा। मेरी सखी की आर्थिक अवस्था अच्छी न थी, परंतु उसने मुझे तथा मेरे बच्चे को कोई कष्ट न होने दिया। उस कृतज्ञता से मेरा रोम-रोम आर्द्र है। परन्तु उस उपकार से मैं कभी उऋण भी हो सकती हूँ ?

ऐसा हुआ कि उसे मायके जाना पड़ा, सम्भवतः किसी शोक-संवाद से। बच्चे का भार मेरे ऊपर पड़ा, जिसे अपना ही भार दूभर था। उस बच्चे को आँखें देखते ही रह जातीं, वात्सल्य की ही नहीं, सभी आँखें। लोग कहते ऐसा रूप तो बस यही है। मैं कहती, नहीं एक और।

जब मैं जापान में रह रही थी और, उसके पहले भी, मुझसे लोग पूछते—"बच्चे की माँ कहाँ है, पिता कहाँ हैं ?"

योगेन्द्र रुक कर कर्नल की ओर देखने लगे। वे बोले—"ऐसा लगता है वह कभी स्त्री के वेश में रहती कभी पुरुष के, और ऐसे सम्भवतः वह अपने को गुप्त रखने अथवा सुरक्षित रखने के लिये रहती।"

क०—तो क्या स्त्री-स्त्री के वेश में अपनी रक्षा नहीं कर सकती ?

यो०—कर क्यों नहीं सकती, किंतु प्रतारणा और प्रलोभन से केवल। भीषण बलात्कार तथा आक्रमण से कैसे बच सकती है वह—वह भी ऐसी अवस्था में जब उसे अपने को प्रकट न होने देना हो ?

नेता जी के स्वल्प मौन के पश्चात् कहानी फिर आगे बढ़ी—

एकबार, जब मैं जापान में थी, आस्ट्रिया के राजकुमार वहाँ पधारे थे। होनहार प्रबल होता है। अतीव सतर्क रहने पर भी मेरा भेद उन्हें खुल गया। एकबार कपड़े बदलते तथा स्नान करते समय ऐसा हुआ होगा संभवतः। परंतु मुझे न ज्ञात हुआ। मुझसे वे बड़ी घनिष्ठता बढ़ाने लगे। उन्होंने अपने प्रवास का समय भी इसी से लंबा कर दिया। कभी-कभी कुछ देर के लिये जब मैं एकांत चाहती तब भी वे मेरा साथ न छोड़ना चाहते। तब मन ही मन मैं कुछ झुँझला उठती; परंतु शील तथा शिष्टता से विवश हो जाती। मुझे क्या पता कि वह घनिष्ठता मुझसे क्यों बढ़ायी जा रही थी ?

उन्होंने मुझसे आस्ट्रिया चलने का अनुरोध किया, जो मुझे अपने जापानी मित्रों के अनुरोध से स्वीकार ही करना पड़ा।

ऐसी-ऐसी परिस्थितियाँ आती रहीं कि स्वजनों को अपने समाचार भी मैं न सूचित कर पाती। उधर जब देश में थी तो सभी चिट्ठियों की छानबीन हुआ करती। और इधर अब शत्रु देश जापान के मेरे जैसे पत्र कैसे सकुशल जा पाते ? मैं राज विद्रोही थी, मृत्यु से निम्नतर दण्ड मुझे दिया नहीं जा सकता था। अब मुझे अपने देश की बहुत याद आया करती। (लिपा) खुफिया विभाग बड़ी सतर्कता से काम कर रहा था।

जापानी गुप्तचरों को भारत जाना था। मेरे मन में एकबार उनके साथ देश देख लेने की प्रबल इच्छा हुई। उनके भी गुप्त अड्डे हमारे देश में थे। मेरे कुछ जापानी मित्र, मैं और राजकुमार हवाई जहाज से देश को रवाना हो गये। वह अपने किसी गुप्त अड्डे पर समुद्र के किनारे उतरा। मेरा बच्चा मेरे साथ था। उसे वहीं छोड़ दिया होता तो अच्छा होता। दूसरे दिन शाम को हम लोग समुद्र के किनारे घूम रहे थे। एक जगह खड़े हो कुछ बातें करने लगे। उसी समय पास से ही दो व्यक्ति ये बातें करते जा रहे थे—कुछ जापानी जासूस आ गये हैं शहर में। खुफिया पुलिस उनके पीछे पड़ी है। खबर तो यहाँ तक है कि बस पकड़ना ही चाहती है।"

हमलोगों के शरीर में बिजली दौड़ गयी। हम लोग तुरंत अड्डे पर लौट आये। उस समय वहाँ कोई न था। शायद पहले ही पकड़ लिये गये हों। हमलोगों के जहाज पर चढ़ते-चढ़ते शत्रु भी आ गये। सब लोग चढ़ गये थे मैं बच्चे को लिए नीचे रह गयी थी। मैं तो ऊपर खींच ली गयी, परंतु लड़का मेरे हाथ से छूट गया। यह सब बस क्षण भर में हुआ। जहाज उड़ा, मैं बच्चा बच्चा पुकारने लगी। किसी का होश ठिकाने नहीं था। ठिकाने भी होता तो अब कर ही क्या पाते ? गोलियाँ चलने लगीं। इधर भी लोग खूब तैयार थे। इधर कोई चोट न आयी, उधर कुछ लोग घायल हुए। संकट पार कर जाने पर लोगों ने मेरी ओर ध्यान दिया। मैं पगली हो रही थी। उनका समझाना-बुझाना मुझे बुरा लग रहा था। मैंने कहा—"मुझे यहीं छोड़ दीजिए। बच्चे को पाऊँगी, या मर जाऊँगी। आप लोगों ने मुझे धोखा दिया

आप लोग बड़े निर्दयी हैं। मुझसे लोगों ने करबद्ध प्रार्थना की और क्षमा माँगी। मैं क्षमा क्या देती क्या न देती। मुझे किसी प्रकार संतोष नहीं हो रहा था। परंतु मैं अपनी समस्त वेदना, समस्त उद्‌गार भीतर समेट मौन हो गयी। आधी रात को जहाज वहाँ फिर गया, लेकिन मेरा खोया हुआ रत्न क्यों मिलता ? लहरों ने समेट लिया, जानवरों ने खा डाला, या क्या हुआ, क्या पता ? मैं वहीं विला जाना, समा जाना चाहती थी, परन्तु वैसा न हो पाया।

यहाँ कुछ देर के लिए मौन छा गया। कर्नल तो सिहर उठे ! कहानी आगे बढ़ी—

मेरे वे दिन घोर चिन्ता और शोक में बीत रहे थे ! दुःख सहने में अभ्यस्त होती हुई भी यह दुःख नहीं सहा जा रहा था। मुझे लग रहा था कि मैंने अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति ही नहीं, जाति, देश तथा विश्व की अमूल्य थाती खो दी है। मुझे सच्ची सहृदयता, सहानुभूति और संवेदना मिल रही थी। राजकुमार ने अपना प्रवास और लंबा कर दिया। आस्ट्रिया की यात्रा मन बहलाने के लिए अब और आवश्यक समझी गयी। परंतु मुझे तो किसी एकांत में सिसका करना और अपनी व्यथा की छाया में ही विश्राम लेना सुखद हो रहा था। पर यह न हो सका। आस्ट्रिया को मेरी यात्रा हो ही गयी। युवराज ने अपने ही राजभवन में अपने ही साथ मेरे अशन-शयन तथा निवास का प्रबंध रक्खा।

हम लोगों का कमरा बड़ा ही सुन्दर और सुसज्जित था। यों तो एक से एक बढ़कर कमरे थे। राजप्रासाद में घटिया चीज कहाँ से आये ? हाथी दाँत के, लकड़ी के जड़ाऊ टेबुलों पर सुन्दर मखमली कपड़े सजे थे। वैसी ही रंग-बिरंगी कुर्सियाँ भी थीं। उन पर सोने-चाँदी के ग्लासों में कृत्रिम और अकृत्रिम फूलों के गुच्छे सजे थे। स्प्रिंगदार गद्दे की उठने और चलने-फिरनेवाली कुर्सियाँ, सोने-चाँदी के फ्रेमों में मढ़े हुये रंग-बिरंगे ऐतिहासिक, धार्मिक, साहित्यिक चित्र, सिग्रेट, सिगारों तथा अन्यान्य वस्तुओं से भरे हुये सुनहले डिब्बे, सुनहले फ्रेमों के बड़े-बड़े आयने, आलमारियों में रंग-बिरंगी बोतलों में भरी हुई अच्छी से अच्छी शराबें, मिठाइयाँ और फल—सभी सामग्रियाँ, सभी ऐश्वर्य परिपूरित थे। परंतु वे ऐश्वर्य मुझे लुब्ध करने के बदले क्षुब्ध

कर रहे थे। मुझे हो रहा था वैभव का ऐसा अनुपयुक्त वितरण अथवा अधिकार इस मानव संसार में क्यों ? वह ऐश्वर्य मुझे उन झोपड़ियों और टूटे-फूटे घरों में उठा ले गया जो अथक परिश्रम कर रूखी-सूखी शाक-भाँजी से भी अपने अधिवासियों का पेट नहीं भर सकते। राजकुमार को क्या पता कि जिस ऐश्वर्य के विरुद्ध मैं युद्ध कर रही हूँ उसी में रख, उसी से वे मुझे सुखी बनाना चाहते हैं।

कुर्सी पर बैठे हुये युवराज ने कहा—"मिस्टर हैलीगोल्ड, (मुझे वे कुछ दिनों से इसी नाम से पुकारते आ रहे थे—और ऐसा प्रेम से ही कर रहे थे।) आज सिनेमा देखने का क्या प्रोग्राम रहेगा ?"

मैं—आज तो कहीं भी मेरा जी नहीं चाहता।

युवराज—ढाकी डैम्नेल में नयी फिल्म लगी है। बड़ी अच्छी ट्रेजडी है। मैंने कहानी सुन ली है।

मैं—मैं कोई ट्रेजडी देखता हूँ तो बहुत दिनों तक उसका प्रतिघातक प्रभाव मेरे हृदय पर बना रहता है। कुछ ट्रेजडीज़ निःसन्देह ऐसी होती हैं कि···।

यु०—आपका हृदय बहुत कोमल है। तो चलिए कामेडी ही देखा जाय।

मैं—इसका यह अर्थ नहीं कि मैं ट्रेजडी देख ही नहीं सकता।

यु०—नहीं नहीं, मुझे तो केवल आपके आनंद से प्रयोजन है। मुझे तो दोनों अच्छी लगती हैं।

एक दिन राजकीय उद्यान में मुझसे और उनसे देर तक बातें होती रहीं। लंबी चौड़ी बातचीत के बाद, जो शायद भूमिका के ही रूप में थी, उन्होंने कहा—"आप अब भी मुझसे दूर रहना चाहते हैं। आपका कुछ ऐसा रहस्य है जहाँ आप किसी को भी जाने नहीं देना चाहते। परंतु मैत्री कोई रहस्य नहीं रहने देना चाहती।

मैंने कहा—"ऐसी तो कोई बात नहीं युवराज! आपसे क्या पर्दा है ?"

यु०—ऐसा गाढ़ा पर्दा है कि मैं आपको देख ही नहीं पाता।

मैं०—वह क्या ?

मैं सन्न हो रही थी। उन्होंने कहा—"बताऊँगा।" मैंने आग्रह किया—"अभी बताइये।"

मैं अपनी निष्प्रभ आकृति को दीप्त करने का प्रयास करती हुई उनकी प्रतीक्षा करने लगी और वे संकोच और एक प्रकार के भय को लाँघकर कहने का प्रयत्न करने लगे। मैं पिछली बातों को मन में दुहराने लगी। कितने निश्चय अनिश्चय और आशंका में परिणत हो गये।

उन्होंने जैसे साहस बटोरकर कहा—"आप कौन हैं, मुझे इतना भी नहीं बता सकते ?"

मेरा रक्त स्थिर-सा हो गया। मैं बोली—"मुझे तो आप जानते ही हैं।"

"मैं जो जानता हूँ वह आप नहीं हैं।" वे कह उठे।

मैं फिर सन्न हो गयी। समझ गयी। मेरा भेद खुल गया। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। मैं अब समझने लगी कि मैं महीनों से जान ली गयी हूँ। निराशा ने मुझे कुछ साहस दिया। मैं बोली—"तो आप मुझे क्या समझ रहे हैं—चोर, लुटेरा, डाकू ?"

यु०—छी छी ! अरे यह सब आप ने क्या कह डाला ! अरे आप जो कुछ हैं और नहीं हैं, वह अतिशय श्लाघ्य है। अब मुझे कुछ आगे कहने की आवश्यकता नहीं, और होगी तो मिस्टर न कह मिस कहा करूँगा।

अंतिम बिजली ने मेरे शरीर में, अंतिम लाली ने मेरी आकृति में दौड़कर मानो सब कुछ स्वीकार कर लिया।

४२

गुफा मन्दिर में कुछ जलपान कर योगेन्द्र अपनी कहानी लिखने बैठे। परंतु कलम उठाकर कहा—"अपनी कहानी फिर लिख लेंगे, आओ वह कहानी पढ़ें। मँझदार में छूट गये थे।"

कर्नल—कहानी लिख लीजिए, उसे फिर पढ़ा जायगा।

यो०—तुम तो दुष्ट-से प्रतीत होते हो।

क०—दुष्ट नहीं हूँ, मैं चाहता हूँ अच्छी चीज धीरे-धीरे खर्च की जाय जिससे कुछ दिन चले।

रातब ड़ी गह्वर थी। आकाश से तुषार की वर्षा हो रही थी। सब कुछ, सर्वत्र ही मानो तुषार ही तुषार था—मानो हिमानी ने ही निशा का रूप धारण कर लिया हो। अब तो जैसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि ग्रीष्म ऋतु भी होती है और उसकी भी फेरी होगी।

आधी रात तो पढ़ते-लिखते, बातें करते बीती। ज्योंही वे सोने चले, पलकों पर पलकें आयी, त्योंही जैसे सब कुछ हिल गया।

"यह क्या ?"

तब तक फिर कम्पन हुआ, पहले से कुछ अधिक प्रबल !

भूकंप है कर्नल भूकंप !!

तब तक एक, दो, तीन कम्पन हुए—प्रत्येक पिछला कम्पन पहले से प्रबल। भूकंप ! भूकंप ! प्रबल भूकंप !!

ऐसा लगा भूमि ही नहीं, आकाश भी कँप रहा है।

वे गुफा से बाहर निकल आये। वहाँ से भयानक दृश्य देखा : द्वीप के चतुर्दिक जो तरंगावलियाँ ऊपर उठा करती थीं उनके गर्भ से जल के अन्तराल से अग्नि के विस्फोट, अंगारे बड़े वेग से ऊपर निकल रहे थे। स्फुलिंग की वे फुलझड़ियाँ आकाश में बहुत ऊपर जा-जा नीचे गिर रही थीं। प्रकृति की उस क्रोधाग्नि में, बस्ती होती, तो कई बार जलभुन कर राख हो गयी होती। परंतु

न जाने कितने जल-जंतु और तट के वृक्ष वैसे ही हो गये। तड़-तड़, घड़-घड़, धड़-धड़, भड़-भड़, हड़-हड़, हर-हर—न जाने कितने तरह के रव होते रहे। ऐसा लगा बाड़व ज्वाला का वैज्ञानिक अस्तित्व है, और यह उसी का उद्‌गार है।

दो, तीन, चार घण्टों तक वह अग्नि-वर्षा नीचे से ऊपर को प्रबल वेग से होती रही। रात यों ही बीत गयी। उन्होंने कहा—"देखो कर्नल ! प्रकृति की असीम शक्ति की एक चिनगारी या हमारा विज्ञान अपने वैभव पर फूला नहीं समाता।"

प्रातःकाल प्रतीर पर पहुँचे। अब प्रशांति छायी थी, परंतु वही तूफान के, क्रांति के बाद वाली शांति। परंतु अभी वे अंगारे भूमि पर स्थिर पड़े दगदगा रहे थे। लेकिन यह क्या वे तरंगावलियाँ जो द्वीप के चतुर्दिक प्राचीर-सी बनाये हुए थीं, न जाने कहाँ समा गयीं ! सागर अब अपने समतल धरातल पर तरंगायित हो रहा था।

क०—यह प्राचीर गायब !

यो०—एक दम गायब ! मानो यह तूफान इसीलिए आया था।

क०—यह टेरर आफ दि शिप गायब !

यो०—लेकिन टेरर आफ दि···।

क०—भगवान जानें और आप।

गुफामंदिर में कुछ विश्रामकर उठे तो दिन में तीन बज रहा था। कर्नल की दृष्टि दीवाल की ओर जा पड़ी। एक जगह ऐसा लगा कि दीवाल के ही रंग का एक वर्गाकार पत्थर जड़ दिया गया हो। उसके चतुर्दिक जहाँ वह दीवाल से जुड़ा था, बहुत ही अस्पष्ट-सी रेखाएँ थीं, जो ध्यान पूर्वक देखने से ही लक्षित होती थीं, उन्होंने कहा—नेता जी यह देखिए यह वर्गाकार पत्थर और इसके मध्य भाग का उभाड़। ऐसे तिलिस्मी तथा जासूसी दरवाजे उपन्यासों में पढ़े हैं।"

इतना कह उन्होंने उसे उभाड़ने को जोर से इधर-उधर हिला पीछे ढकेला। वह पत्थर पीछे चला गया और एक दरवाजा-सा खुल गया।

योगेन्द्र ने कहा—"सचमुच यह तिलिस्म है क्या कर्नल ? लेकिन यही क्यों

सब कुछ तो ऐसा ही लगता है। हमारा जीवन ही तिलिस्म है। इसकी कुञ्जी और कौशल हस्तगत हो जाय तो अमोघ और अक्षय धन अपना हो जाय।"

दरवाजे के उस पार से नीचे जाने को सीढ़ियाँ लगी थीं। वे उन्हीं से नीचे उतरे। दूर और देर बाद उन सीढ़ियों ने उन्हें भूमि की सतह पर एक विस्तृत और सुन्दर कमरे में प्रविष्ट कर दिया। कमरे में चार दरवाजे थे जिनसे पूर्ण प्रकाश आ रहा था। कमरे की छत में जो पहाड़ की ही थी, कई झरोखे थे। उनसे भी कुछ प्रकाश और वायु का प्रवेश हुआ करता। उसकी दीवालें भी पहाड़ की ही थीं, पहाड़ में तो वह था ही।

एक दीवाल पर कपिलवस्तु नगर की बड़ी ही सुंदर, सुकौशलपूर्ण चित्रकारी थी। राजकुमार गौतम पहली बार अपना मनोरम नगर देखने के लिए रथ पर निकल रहे थे। वह चित्र भी था, जब वे दूसरी बार निकले थे, जब उन्हें वैराग्य हो गया था। दूसरी दीवाल पर वह चित्र था जब वे आधी रात को अपनी प्यारी यशोधरा, अपने प्यारे बच्चों और उस राजभवन को छोड़ विदा हो रहे थे। बोध वृक्ष के नीचे उनकी समाधि तथा सिद्धि लाभ कर राजभवन को लौटने के प्राय: सब वे हो चित्र थे जो गुफा-मंदिर में थे। एक दीवाल के मध्य भाग में उससे सटकर भगवान बुद्ध की अतीव सुंदर, सजीव-सी प्रतिमा बनी हुई थी। दोनों ओर स्निग्ध सुंदर प्रस्तर स्तंभों पर कुछ धर्मोपदेश उत्कीर्ण थे। उनमें कुछ ये थे—ये सब वाक्य जो कमरे में बन्द हैं, प्रत्येक पृथक-पृथक पंक्तियों में रहेगा। 'परम शांति परम सुख है।' 'परम शांति आत्मा में है।' 'वह जीवन की विषमताओं से दूर भागने से नहीं, उनसे संघर्ष कर उन पर विजय पाने से मिलती है।' 'जो अव्यक्त सब में व्याप्त है वह एक अजर अमर और अनादि है, वही परम तत्व है, और सब कुछ उसका आभास मात्र है।' 'सदाचार सब साधनों का मूल ही नहीं, स्वत: चरम साध्य है।'

सामने की दीवाल से सटे हुए पत्थर के छोटे-से खंभे पर शमादान के-से शीशे में लाल-सी कोई चीज रक्खी थी, जो, ज्यों-ज्यों दिन ढल रहा था, जगमगाती जाती थी। अँधेरा होते-होते उसने कमरे को पूर्ण रूप से प्रकाशित कर दिया। कमरे की फर्श ऐसे स्निग्ध पत्थर से बनी थी मानों मखमल बिछा हो।

वे मंत्र मुग्ध से प्रत्येक वस्तु को, प्रत्येक रचना को देर तक देखते रहे। फिर कर्नल ने पूत विस्मय से भरी एक लंबी साँस ली। योगेंद्र ने कहा—"इस अतीत सभ्यता एवं संस्कृति का इस एकांत द्वीप में भी निवास था। आज यहाँ कोई नहीं है, रहनेवालों के चिह्न शेष रह गये हैं। कितनी शतियाँ बीत गयीं, कितने जलाशय द्वीप में, द्वीप जलाशय में, कितने भूधर कीच में, कीच भूधर में, कितने नगर जंगल में और जंगल नगर में परिणत हो गये—कितने परिवर्तन हो गये। कितने पुरातन स्मारक भूमि से खोदकर निकाले जा रहे हैं जो नाना इतिवृत्तियों का जन्म दे हमारा अतीत बतला रहे हैं। परंतु ये स्मारक अभी ज्यों के त्यों हैं। समय और वायु के विनाशकारी प्रभाव मानो अभी इन पर पड़े ही नहीं।"

यों कहते-कहते वे मौन हो गये, उनकी मुद्रा गंभीर हो गयी। वह ससीम जीवन असीम में समाहित हो गया। कर्नल ने अपने युवक कर्मयोगी में भगवान बुद्ध की दूसरी समाधि देखी। देर बाद समाधि से जागकर उन्होंने देखा कि कर्नल पूत प्रार्थना से उनके चरणों पर प्रणत थे। उन्हें उठाकर वे बोले—"भगवान बुद्ध की शरण जाओ।"

"आप भगवान बुद्ध ही तो हैं। क्या मुझे शरण में न लेंगे ?" कर्नल ने मुग्ध हो कहा।

"मैं ?"

"जी हाँ आप ! क्या आपको याद नहीं, जब लंका में एक संन्यासी ने आपसे कहा था—"जब आप भगवान बुद्ध हो जायँगे तो मुझे भी शरण में लीजियेगा ! आपको सिद्धिलाभ हो गया।"

यों कह कर्नल उस पवित्र क्रोड़ में सुआश्रित हो गये।

... ...

आज जंगल से लौटकर आने में बहुत देर हो गयी। कुटी पर आते ही कर्नल लेट गये। योगेन्द्र ने कहा—"क्या आज बहुत थक गये ?"

"तबियत कुछ ठीक नहीं है।" खिन्न स्वर में कर्नल ने कहा।"

उन्होंने उनके शरीर पर हाथ फेरा। वह गरम था। उनका तापमान बढ़ने लगा।

"कुछ भुने कन्दमूल और फल रक्खे हैं, आप भोजन कर लीजिये। मैं सोऊँगा।" कर्नल इतना कह मौन हो गये।

क्षण बीते, घण्टे बीते, रात बीती, परंतु कर्नल में चेतना न आयी, ताप-मान कम न हुआ। कई दिनों तक यही अवस्था चली। कभी-कभी आँखें पल भर को खुलकर बंद हो जातीं। नेता जी उनके समीप बैठे। कभी सिर सहलाते, कभी शरीर पर हाथ फेरते, कभी एकटक उनकी ओर देखते रहते।

आज रात को आकाश में काले-काले बादल भी घिर आये। कुछ देर तक वे घड़घड़ाते रहे, रह-रह बिजली कौंधती रही और फिर बूँदें भी पड़ने लगीं और वायु भी वेग से चलने लगा। बूँदों से बोझिल, तुषारों से पूरित हवा के ठंढे-ठंढे झकोरे जब गुफा में घुस आते तो कर्नल को शीत से बचाने के लिये वे उन्हें ढक लेते। कर्नल को कभी-कभी एकाध क्षण के लिये चेतना आ जाती।

कर्नल के विवर्ण मुख की ओर, झलमलाते देवदारु दीपक की ओर फिर भगवान बुद्ध की ओर देख कर्मयोगी ने कहा— 'महा हिमानी, आज तेरी साँसों में ऐसा फूत्कार क्यों? क्या ये दीपक अब न जलें? भगवन्! तुम बताओ। कर्नल! मेरे प्यारे कर्नल! तुम्हारे अधरों की सुस्मिति में मेरे हृदय की सूखी कलियाँ खिल जातीं, तुम्हारी आँखों की तरलता में मेरे मन की तप्त मरुस्थली हरी-भरी हो जाती; सभी मंजिलों पर तुम्हें मैंने अभिनव स्फूर्ति और संबल के रूप में पाया है। तुम्हारा मेरा संबंध आज का नहीं, जन्म-जन्मान्तर का जान पड़ता है। तुम...।"

फिर उन्हें गोद में ले उनके मस्तक पर हाथ फेरते हुये एकटक उनकी ओर देखते हुये कहा—"उठो मेरे प्यारे! अभी ऐसे सो जाने का समय नहीं। दूर चलना है। मुझे अकेला न छोड़ो।"

कर्नल की आँखें खुल गयीं। वे छलछलायी थीं। कर्मयोगी की आँखों से दो बूँदें कर्नल के कपोलों पर टपक पड़ीं। उस शिथिल हाथ ने उन आँखों को पोंछना चाहा, पर न हो सका। हाँ, योगी ने कर्नल की आँखें पोंछ दीं और वे बन्द हो गयीं। कर्नल सिर से पैर तक सिहर गये। सारा शरीर विवर्ण हो गया।

एक हिचकी आयी और योगी ने उस शिथिल काया पंजर को हृदय में लिपटा लिया।

४३

ख्वान साहब के पकड़ जाने से बलवाइयों की जैसे टाँगें कट गयीं, उनके जोश उफान की तरह बैठ गये। जहाज के कप्तान को तो बड़ी अदालत में बुला लिया गया, परंतु उनका केस इसी अदालत में चल रहा था। उनके विरुद्ध प्रमाणों का क्या पूछना था?

...   .

बहुत दिन हुये, बाबा के दर्शन न हुये। योगेन्द्र की लगायी हुयी फुलवाड़ी को सींचकर फूलों की ओर एकटक देखा करते, मानो उनमें योगेन्द्र और चन्द्रावती को ही देखते।

आज भी बाबा उसी फुलवाड़ी में खड़े आकाश की ओर देख रहे थे। वे जो कुछ देख रहे थे वे ही देख सकते थे। गगन के राजमार्ग पर अति सुदूर अभिनव वसंत—मानव जीवन का वसंत, अभिनव शांति—मानव जीवन की शांति, अभिनव युगांतर—मानव जीवन का युगांतर आना चाहता था। उसका आभास अग्रदूत-सा आगे चला आता था। उसी समय एक कार जेल के फाटक पर खड़ी हो गयी और उसमें से एक स्त्री गोद में एक बालक लिये और एक पुरुष उतर फाटक के भीतर घुसे। वे सीधे बाबा के पास चले गये और जब उन्होंने उनके चरणों को स्पर्श किया तब बाबा ने उन्हें देखा।

बाबा के दर्शन हो गये। अब अनोखेराय की विधवा और उसके लड़के की दो चार बातें सुन हम उसी द्वीप में सात समुंदर पार चले चलें।

दिन संध्या में, संध्या अंधकार में और अंधकार अनंत ज्योत्स्ना में डूब गया। खुले स्थान में बैठा हुआ बालक उस पीयूष-स्रोत की ओर देखकर बोला—

"क्यों माँ, वे डूबकर यहाँ से चले गये होंगे, तो उसी चन्द्रलोक में होंगे न ? पुण्यवान वहीं जाते हैं।"

माँ—हाँ बेटा, वहीं होंगे।

बेटा—हमें इतना प्यार करते थे, वहीं क्यों नहीं बुला लेते ?

माँ—जब तुम भी सेवा कर लोगे—पुण्य कर लोगे, तब न बुलाएँगे।

बे०—मुझे जल्द बड़ा कर दो, मैं भी सेवा करने लगूँ। उस लोक में कोई दुखी न होगा माँ, कोई मरता न होगा, कोई डूबता न होगा। ये बलवाई वहाँ न होंगे। ऐसी खराब सरकार वहाँ न होगी। वहाँ लीग का झगड़ा न होगा। है न माँ ? तुम मेरी बात नहीं सुनती हो ?

माँ—सुन रही हूँ बेटा ! वहाँ यह सब कुछ भी न होगा। तुम तो बड़ी-बड़ी बातें करने लगे। भगवान तुम्हें शीघ्र बड़ा कर दे, तुम्हें ऐसी ही सद्बुद्धि दे।

बे०—तुम कितनी अच्छी हो माँ। लेकिन माँ, वह सुआ लौट कर न आया। नेता और नेत्री जी मेरे मन से कभी नहीं उतरते। उनके सपने देखा करता हूँ—बहुत बड़ा समुद्र है, जहाज उसमें चला जा रहा है। ऐसी ही उजेली रात है। वह किनारे से बहुत दूर चला आया। अब पानी ही पानी दिखता है, जमीन का कहीं पता नहीं। जहाज में छेद हो जाता है, पानी भरने लगता है। सब लोग उतर जाते हैं, नेता और नेत्री जी जहाज के साथ डूब जाते हैं।

इतना कहते-कहते बालक सिर से पैर तक काँप गया और जहाज के पानी में डूबते-डूबते वह आँसुओं में डूब गया।

× × ×

कभी वायु के झोंकों से और कभी वैसे ही वृक्षों की डालियों से पत्ते गिर रहे थे। खड़-खड़, खड़-खड़ के संगीत से समग्र वनस्थली मुखरित हो रही थी। प्रकृति यह कैसा करुण विहाग गा रही थी ! वे पीले-पीले, जीर्ण-शीर्ण पत्ते अपनी ही डालों के नीचे—अपने ही खण्डहरों में रहना चाहते थे, परंतु वायु उन्हें उड़ा ले जाता—दूर निर्वासित कर देता।

योगेन्द्र ने भूमि पर, फिर आकाश की ओर देखा, वैसे जैसे बाबा ने उस दिन देखा था, या कभी-कभी देखा करते। वृक्षों की नंगी-नंगी शाखाएँ चित्र की विरल, बिना भरी हुई रेखाओं-सी आकाश में फैली थीं। उन्होंने अपनी

सुदूर प्रसरित, मर्मभेदिनी दृष्टि समेट ली और कुछ सोचते हुए 'मेरी कहानी' के पन्ने खोल एक लंबी साँस ले आगे बढ़े—

मेरी ओर आश्वासन भरी दृष्टि से देखते हुए युवराज ने कहा—"आप घबड़ाते क्यों हैं ? मैं केवल एकांत में आप जो हैं वह मानूँगा, अन्यथा वहीं मिस्टर हैली गोल्ड। इसमें कोई अंतर नहीं आ सकता। मेरी चिन्ता आप क्यों करते हैं ? मैं तो आप के उद्देश्यों का साधक हूँ, बाधक नहीं। इस छद्म वेश के लिए मैं आप को बार-बार बधाई देता हूँ। आपने तो सभी जासूसों और ऐयारों को मात कर दिया।"

मुझे लगा मैं जन्म भर के लिए कैद हो गयी। अपने को बहुत सँभालना चाहती, परंतु सँभाल न पाती। किसी प्रकार अपने को अपरिवर्तित दिखाने की चेष्टा करते हुए मैंने कहा—"क्या आज आपको इतना प्रसन्न होना चाहिए ?"

वे बोल उठे—"क्यों नहीं, जिसे लाखों ने न जाना उसे मैंने जान लिया ! और आप के निकट होने में भला मैं प्रसन्न न होऊँ ?"

× × × ×

पावस की उन्मादिनी निशा थी। आकाश में बादल घिरे थे। मन्द-मन्द मृदंग की-सी घुरघुराहट हो रही थी। नन्हीं-नन्हीं बूँदे भी पड़ रही थीं। रह रह बिजली भी कौंध जाया करती। झिलमिल झिलमिल ठंढी-ठंढी बयार बह रही थी। वायु के एक-एक झोंके में, बिजली की एक-एक कौंध में, झींगुरों और झिल्लियों की एक-एक झनकार में, निशा के एक-एक स्पंदन में प्रेम का अभिनय हो रहा था। युवराज ने दस बजे रात मेरे कमरे में प्रवेश किया। आज का उनका ठाँट अनोखा था। बिजली का प्रकाश था। मैं कुर्सी पर बायें हाथ पर माथा टेक बैठी थी। मैंने उठकर उनका स्वागत किया। मुझे बैठाकर सामनेवाली कुर्सी पर वे बैठ गये और बोले—"क्या आप हृदय से मेरा स्वागत करती हैं ?"

मैंने कहा—"आप क्या समझते हैं ?"

उन्होंने केवल मुस्कुरा कर मेरा उत्तर देते हुए एक सुन्दर पेटी खोल उसमें से लेडियों के तरह-तरह के चमकीले, बहुमूल्य, प्लेन और जड़ाऊ

ड्रेस निकाले। उनमें बहुत-सी बहुत सुन्दर साड़ियाँ भी थीं। उन्हें मेरे आगे रखते हुए कहा—"क्या इन्हें आप अपने शरीर पर रख कृतार्थ कर देंगी ?"

मैंने अपने को सँभाल कर कहा—"मैं अभी अपने इसी वेश में रहना चाहता हूँ।"

युवराज—ऐसा क्यों ?

मैं—यह तो आप जानते ही हैं। अभी जबतक देश न स्वतंत्र हो जाय बहुत कुछ करना है।

यु०—आपका इस कमरे के भीतर अपने वास्तविक वेश में हो जाना आप के कार्य में कोई बाधा नहीं उपस्थित कर सकता। और आप को एक स्वतंत्र देश की साम्राज्ञी हो मेरा प्रेम समर्पण भी तो स्वीकार करना है।

मैं तमतमा उठी, परंतु अपने को सँभाला। मुझे ऐसा आत्म-शासन कभी न करना पड़ा था। मैंने देखा कि विश्व और देश पर शासन करनेवाली शक्ति उस आत्म-शासक शक्ति के आगे कुछ भी नहीं है।

मैंने कहा—"आपको अपनी सीमा से बाहर जाना उचित नहीं।"

उन्होंने विनम्रता पूर्वक कहा—"मुझे क्षमा करना युवराज्ञी। अब से मैं तुम्हें एकान्त में यही कह पुकारा करूँगा। मैं प्रेम की सीमा से बाहर तब हूँ, जब यह सब कुछ न कहूँ।"

तुम और युवराज्ञी का यह पहला संबोधन मेरे लिए था। मैं फिर आवेश में आ गयी। वे बोले—"यह साम्राज्य तुम्हारा है, यह युवराज तुम्हारा है। हम तुम हँसते-हँसते जीवन का पथ चलेंगे। हमारा एक-एक क्षण स्वर्ण युग, एक-एक कण स्वर्ग बन जायगा मेरी युवराज्ञी।"

मैंने कहा—"आप जानते हैं, मैं बड़े से बड़े साम्राज्य की सम्राज्ञी हो चुकी हूँ। फिर आप··· ?"

यु०—परंतु इस साम्राज्य का सिंहासन तुम्हारे लिए खाली पड़ा है। आप मुझे घृणा क्यों करती हैं ? मेरा प्रेम ठुकराती क्यों हैं ?

मैं—छिः छिः ! मैं भला ऐसा क्यों करूँ ? मुझे प्राणिमात्र की सेवा ही प्रिय है। आपकी सेवा करना अभीष्ट है। आप से यही कहती हूँ कि आप भी

प्राणिमात्र की सेवा करें। आप अपने अतुल ऐश्वर्य से क्षुधार्त्तों की क्षुधा तृप्त कीजिए। आपको शांति मिलेगी और आप अनश्वर ऐश्वर्य के स्वामी हो जायँगे।

यु०—मेरी तृषा तृप्त कर जो चाहो सो करो। मैं उन क्षुधार्त्तों से भी क्षुधार्त्त हूँ। यह सब कुछ तुम्हारा है। मुझे तो केवल तुम्हारे प्रेम, तुम्हारी कृपा से नाता है।

ऐसी कितनी रातें, कितने दिन बीते। एक रात, कुछ ऐसी ही रात वह भी थी, युवराज ने मुझे कम से कम एकबार मेरे स्त्री-वेश में देखने का बड़ा अनुरोध किया। उन्होंने कहा—"क्या आप एक मानव आत्मा की तृप्ति के लिए दो क्षण के लिए अपना वास्तविक वेश भी नहीं धारण कर सकतीं? क्या आप में इतनी भी उदारता नहीं?"

मैंने कहा—"इससे तो आपकी तृप्ति नहीं, अतृप्ति ही होगी।"

वे अति विनीत हो बोले—"नहीं, मुझे तृप्ति होगी, अपार तृप्ति होगी। इतनी कृपा करें।"

मुझे विवश हो अपना वेश बदलना पड़ा। पहले मुझे योरोपियन लेडी का फिर भारतीय महिला का वेश धारण करना पड़ा—एक ब्लाउज और साड़ी। वैसे ही साधारणतया मैंने अपने अञ्चल के छोर को सिर पर मस्तक के ऊपरी भाग तक रखते हुए आगे से दूसरे कंधे पर कर पीछे को डाल दिया। मेरे उस वेश में न जाने कौन सी मादकता थी,—यों तो मेरे सभी वेश उनके लिए उन्मादक थे,—कि वे पागल-से हो गये। वे मुझे आलिंगन करने को आगे बढ़े, मैं पीछे हट गयी। अपने रूप की जो प्रशंसा मैंने सुनी, उससे स्पष्ट था कि मेरी जैसी रूपवती रमणी न कभी थी, न है, न होगी। पर मुझे अपने उस अपरिमेय रूप का बोध ही न हो रहा था। मुझे इस बात का अतीव क्लेश हो रहा था कि मैं उनके क्लेश का कारण हो रही थी।

मेरी गर्दन पर नंगी तलवार झुकी, मेरी छाती पर तमंचा लगा, मेरे शरीर में बिजली दौड़ी। मैं बेहोश हो गयी। डाक्टर आये और फिर मुझे होश आया। युवराज को मुझसे तृप्ति के बदले आश्चर्य मिला। परन्तु अब मैं सचमुच बन्दिनी थी।

उसी समय नेता और नेत्री जी योरप की यात्रा कर रहे थे। एक दिन, जब

वे आस्ट्रिया में थे, राजभवन के मेरे बन्दीगृह के समीप से जा रहे थे। मैंने खिड़की से एक पत्र, जिसे पहले से लिख रक्खा था, उनके सामने गिराया। परन्तु वे आगे बढ़ गये और पत्र उनकी पीठ को छूता हुआ-सा पीछे गिर गया। मैं हताश हो गयी। उस एक इंच और एक पल ने न जाने कितनी मीलों और दिनों का अंतर डाल दिया।

अब मैं अपनी मुक्ति का उपाय सोचने लगी। प्रतारणा, प्रलोभन और धमकियों में मेरे दिन बीतने लगे। एक रात मेरे ही कमरे में युवराज मद के उन्माद में पड़े थे। मुझे अवसर मिला। मैंने उनकी पोशाक पहन ली और युवराज बन बाहर गयी। प्रहरी कुछ चकित अवश्य हुए, पर मुझे रोक न सके। बड़ी दुर्गति के साथ भोर होते-होते कई मील दूर चली गयी। एक जगह बड़े खतरे से बची। राजभवन की सीमा के बाहर हो वह पोशाक उतार मैंने साधारण मनुष्य का वेश बना लिया था। दूर आने पर एक जंगल के छोर में तीन-चार सशस्त्र मनुष्य खड़े हो कुछ बातें कर रहे थे। वे शायद खुफिया पुलिस के लोग थे। युद्ध के कारण सभी देशों में खुफिया विभाग बड़ी सतर्कता से काम कर रहा था। हवा से भी पत्ते खड़कने पर उसके कान खड़े हो जाते। निर्जीव आकार भी देखकर उसकी आँखें उस पर गड़ जातीं।

मुझे देखते ही उन सबों ने अपनी पिस्तौलें सीधी कर लीं। एक ने पूछा—"कौन—७, ५ ?" मैं इस विशेष इंगित का कुछ अर्थ न जानती थी। फिर वही प्रश्न हुआ ? मैंने कहा—"निकट आओ !" वे करीब आ गये। मेरे पास युवराज का तमंचा था। मैंने उसे उन्हें दिखा दिया। उस पर उनका नाम खुदा था। वे चकित हो मेरी ओर संदिग्ध दृष्टि से देखने लगे। मैंने कहा—"मैं उन्हीं के कार्य से जा रहा हूँ। कहाँ और किस कार्य से यह बताने का आदेश नहीं। एक-एक क्षण का विलंब मेरे लिए क्षतिकर है। मैं जा रहा हूँ।

एक ने शेष की ओर देख कहा—"चले जाओ।"

दूसरे ने कहा—"उत्तर क्यों नहीं दिया।"

तीसरे ने कहा—"नया आदमी होगा।"

मैं चलती रही, पर कैसे—यह सोचने में आज भी शरीर काँप जाता है।

अभी मेरा हृदय धड़क रहा था और ऐसा लगता वे मेरे पीछे आ रहे हैं। ओह हृदय की वह धड़कन आज भी हृदय धड़का देती है। कुछ दूर आने पर मुझे गोलियों की सनसनाहट के बीच से आना पड़ा। एक गोली सन्न से मेरे कान को छूती हुई निकल गयी। किसी तरह हवाई जहाज पर जापान पहुँच गयी। जहाज कैसे मिला ... ...

... ...

... ...

(इतना लिप गया था)। ... ...

... ...

... (यह अंश भी लिप गया था।)

... ... मेरी इटलीयात्रा ... ...

... ...

(सब पंक्तियाँ लिप गयी थीं।)

× × ×

४४

प्रभात की सुनहली किरणों में अखिल प्रकृति नहा उठी थी। योगेन्द्र कर्नल के साथ सागर प्रतीर पर घूम रहे थे। परंतु उस मधु-बेला में भी उनकी आकृति टंड्रा प्रदेश सी सुनसान लग रही थी। किंतु उसके अंतराल में अडिग आनंद की आभा जगमगा रही थी, जिसे बिरले ही देख और समझ सकते थे। कर्नल देर तक उनकी ओर देखते रहे। देर बाद वे बोले--"कर्नल! तुम्हें मृत्यु के मुख से मैंने पा लिया। सुन रहे हो कुछ तुम?"

"सुन रहा हूँ इन तरंगों की हरहराहट!"

"महाकाल का यह भैरव राग सुन रहे हो--हिंग! हिंग! हरहर! हरहर! महाकाल का ताण्डव नृत्य देखो! क्षण, घड़ियाँ, दिन-रात, मास, वर्ष, युग, मन्वंतर, संस्कृति, संसृति--सबके भग्नावशेष पर यह गान, यह नृत्य हो रहा है!! इसमें हमें अपनी अमरता पानी है!"

कर्नल की आँखें विस्फारित हो गयीं। उन्होंने वह नृत्य देखा, वह गान सुना!

"वे कितनी दूर से आ रही हैं, अदृश्य हो फिर दृश्य होती हैं और फिर न जाने कहाँ अदृश्य हो जाती हैं। हमें इन सबका सूत्रधार होना है।"

... ...

आज वे कुटी पर न आ सके। रात हो गयी। और वे मार्ग में ही घास पर सो गये। योगेन्द्र ने कहा—"कर्नल! तुम अभी अस्वस्थ हो। कुछ शीत लग रही है, आओ मेरे क्रोड़ में सो रहो।"

थोड़ी ही देर में उन्हें नींद आ गयी। दोनों लंबे स्वप्न देख रहे थे। योगेन्द्र ने स्वप्न के अन्त में चन्द्रा और सविता को पा लिया था और कर्नल ने विचित्र स्वप्न देखा और न जानें क्या पाया और क्या खोया। पर चन्द्रा को शायद उन्होंने भी पाया था।

उन्होंने पुकारा—"भाभी ! सविता !"

कर्नल ने भी कुछ कहा, परन्तु साफ सुन न पड़ा।

वहीं एक तीसरा स्वर भी सुन पड़ा—"योगेन्द्र ! सविता, मेरी देवरानी !"

स्वप्न का अंत, रात का अंत और उनकी नींद का अंत साथ ही हुआ।

संयोग की बात कैसी होती है ! तीसरा स्वर था चंद्रावती का। वे अपनी कुटी पर सोकर उठ रही थीं। जो इतना ढूँढ़ने पर न मिलीं वे अकस्मात् मिल गयीं। इस स्थान पर वे कभी न आ सके थे। वे एक दूसरे की ओर देखने लगे। जागते हुए भी अभी मानो स्वप्न ही देख रहे हों।

गुफा-गृह में उन्होंने अपनी-अपनी कहानियाँ कहीं। वैसी ही कहानी चन्द्रावती की भी थी—वही उपवास, वही बेहोशी, वही सहारा—आदि आदि।

४५

तीनों देर तक बातें करने के बाद गुफा-मंदिर में गये। वहाँ जाकर कुछ सोचते-सोचते योगेन्द्र ध्यान मग्न हो गये। योगेन्द्र के रूप में भगवान् बुद्ध के समीप दूसरे भगवान् बुद्ध की समाधि लगी थी। चंद्रा ने कहा—"कर्नल! क्या यहाँ कुछ अप्राप्त है? क्या कोई अभिलाषा अपूर्ण है? क्या कहीं अंधकार है?"

कर्नल ने आलोकित हो कहा—"नहीं भाभी कहीं नहीं!"

कर्मयोगी ने आँखें खोल दीं और उनसे जो प्रकाश फैल गया वह भी कह उठा—"नहीं, कहीं नहीं।"

आज वे घूमते-घूमते अकस्मात् वहाँ जा निकले जहाँ तरंगों ने उस एक नाव को जिस पर नेत्री तथा नेता जी किनारे लगे थे, द्वीप में विक्षिप्त कर दिया था। वह जीर्ण-शीर्ण-सी तो हो गयी थी, परंतु अभी जल पर तिर सकती थी, लहरों के कुछ थपेड़े सह सकती थी। जैसे वह कह रही थी—"यहाँ पड़ी-पड़ी मैं तुम्हारी ही राह देखती रही हूँ। तुम्हें यहाँ लाकर किनारे लगा दिया, अब चलो देश को ले चलूँ।"

जैसे नेता जी ने उसकी बात समझ ली। बोले—"चलो इसी नाव से देश को चलें। इस अवस्था में यहाँ पड़े रहने से अपनी भाग्य-नौका को तरंगों पर छोड़ देना ही अच्छा है। बहुत संभव है कोई जहाज मिल जाय।"

सहवास से सबको ममता होती है, चाहे वह कुछ दुखद भी हो। वहाँ के तरु-तरु से, पल्लव-पल्लव से, स्थल-स्थल से उन्हें स्नेह हो गया था। उन्होंने उन्हें फल-फूल और आश्रय दिये थे—जिलाया था, अपनी गोद में सुलाया था, अपने पत्तों और वल्कल से उनके तन ढके थे, पल्लवों से पंखे झले थे, मर्मर, गुंजन और कलरव के कल गान सुनाये थे।

सभी स्थानों, वृक्षों, कुटीरों तथा मंदिरों को, जहाँ उनके जीवन के अनेक दिन बीते थे, नमस्कार कर वे विदा हो गये। सुंदर प्रभात में वही नाव तीन निर्वासितों

को—तीन नेताओं को—तीन कर्मयोगियों को—अपने वक्ष पर ले पासे के दाँव की तरह अगाध सागर की लहरों पर छलक चली। अनुकूल पवन—जो मानो उसकी प्रतीक्षा कर रहा था—उसे स्टीम इंजन की भाँति उड़ा ले चला। वे देर तक अपने उस आश्रय की ओर देखते रहे और वह भी अपनी पहाड़ी तथा ऊँचे-ऊँचे वृक्षों द्वारा सिर उठाए उन्हें देखता और कहता रहा—'तुम कहीं भी जाओ, हम तुम्हें कभी आँखों से ओझल न होने देंगे।'

उनके पत्तों के रोम-रोम में घनी सिहरन हो जाया करती।

नाव मीलों चली गयी तो दूर पर एक जहाज की पताका आशा-सी लहराती हुई दिखा पड़ी उसके निकट आते-आते एक बार वह ऐसी डगमगायी कि मानो उलट गयी। लेकिन बच गयी। कर्नल ने झंडे के कुछ संकेत किये। जहाज रुक गया। संयोगवशात् जहाज वह जापानी ही था। वे जहाज पर ले गये और उन्हें लाने वाली वह उदार नौका भी जहाज पर ले ली गयी। कप्तान ने उन्हें १५ अगस्त, १९४७ को ब्रिटिश द्वारा भारत को सत्ता हस्तांतरित कर देने का शुभ संवाद सुनाया।

जिस दिन ये निर्वासित देश में उतरे वही दिन जीनियल साहब के भी भारत में आने और खान साहब की फाँसी का था। वे फाँसी के तख्ते पर चढ़ चुके थे। वे घोर अंधकार से घिरे थे। परन्तु आज वे उस अंधकार में ही अपने गुनाहों को देख और समझ रहे थे। वे कयामत का वह तख्त और उसमें अपने लिए वैसी न जाने कितनी शूलियाँ, एक से एक भयानक, देख रहे थे!

पर ऐसी घटनाओं की देश में कोई चर्चा न रही। नेता तथा नेत्री जी के, जिनके जीवित रहने की कोई संभावना भी न थी, ऐसे समय सकुशल अपने देश लौट आने का साधारण आनंद तो था नहीं। इसके उपलक्ष्य में देशव्यापी उत्सव मनाया गया।

यह सब हो जाने पर प्रमुख महानुभावों की एक भद्र मण्डली उस द्वीप को रवाना हुई। वहाँ सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधि भी आमंत्रित थे। उसी विशाल बुद्ध मंदिर में एक बहुत बड़ी कानफरेंस हुई, जिसमें विश्व-संघ के विषय में गंभीर विचार हुआ।

सभा के पश्चात् एक बौद्ध सन्यासी ने योगेन्द्र के सम्मुख विनत हो कहा—"आप भगवान बुद्ध हो गये, मुझे शरण में लिजिए; बचन दे चुके हैं।"

उन्हें हृदय लगा वे बोले—"आप ने अपने दर्शनों से हमें कृतार्थ कर दिया। आइए हम सब बुद्ध भगवान् की शरण लें! ॐ तत्सत्!"

ये वही सन्यासी थे जो लंका में नेता जी से मिले थे।

यथासमय बुद्ध भगवान् की प्रतिमा के समक्ष उसी मंदिर में इन तीनों योगियों की भी प्रतिमाएँ स्थापित की गयीं और उस द्वीप में एक सुंदर बस्ती भी बस गयी।

४६

जिस कमरे में, बहुत दिन हुए, सविता अपने पिता को योगेन्द्र की कहानियाँ दिखा रही थी और योगेन्द्र अज्ञात किसी दूसरे कमरे में बैठे थे, उसी में आज वे चिन्ता की प्रतिमा से स्थापित थे। इधर इन्होंने सविता का कोई समाचार भी नहीं सुना। जिस भारत के स्वतंत्र होने की बात उन्हें दिल्लगी और प्रलाप-सा लगती, वह भारत स्वतंत्र हो गया। लेकिन सविता का कहीं कोई पता भी नहीं। आशा का जो दीप हृदय के एक कोने में टिमटिमा रहा था वह झलमला गया। उसी क्षण उन्हें ऐसा लगा मानो सविता उनके पार्श्व में खड़ी हो कह रही हो—"पिता जी, ये कहानियाँ ···।"

वे बोल उठे—"सविता ?" पर दृष्टि फेरी तो नैराश्य और पश्चात्ताप की एक शून्य प्रतिमा-सी मिली। वे सिहर उठे ! फिर उन्हें अपने वे शब्द सुन पड़े—"योगेन्द्र से तुम्हारा संबंध कभी नहीं हो सकेगा।"

ये शब्द जैसे उन्हीं दीवालों से निकल रहे थे। कमरा गूँज उठा। वे काँप उठे। मुख से फिर निकल पड़ा—"सविता !"

एक रूपवती उसी क्षण कमरे में प्रविष्ट हो उनके चरणों का अभिनंदन कर बोली—"पिता जी !"

वे चौंककर बोले—"सविता !"

आगंतुक—सविता नहीं सविता की बहन जो सविता के विषय में जानती है। आपने तो मुझे माता जी के साथ ही छोड़ दिया। पर मैं अपने पिता को कैसे छोड़ती ? ननिहाल में किसी तरह दिन काटती रही—यह आप की सावित्री मैं ···।

पिता—सावित्री ! ओह ! मुझसे जो कुछ बन पड़ा वह पाप ही बेटी। क्या ··· ··· ·· ··· ···

सावित्री—आप से क्या बन पड़ा पिता जी यह मैं नहीं जानती, लेकिन आप के किए का जो फल आप के सामने है वह शायद ही किसी के

भाग्य में हो। आप का मनोवांछित ही नहीं, उसके अतिरिक्त भी आपको मिला है—अपनी फूली-फली फुलवाड़ी देखिए। ··· ··· ···
··· ··· ··· ···

क्रांति की शांति, भ्रांति की कांति कर्मयोगी योगेन्द्र, सिद्धनाथ बाबा अजीत सिंह, चन्द्रावती और कर्नल के साथ अपने उसी मकान में थे जिसमें उन्होंने जीवन का प्रथम प्रभात देखा था और शैशव के भोले दिन बीते थे। आज कितने दिनों पर कुर्की-नीलाम, पानी-पत्थर, आँधी-अंधड़ से बचकर निश्चित रूप से इसमें दीप जला है, और वह दीप भी जगमगाया है जिससे सारे विश्व, सारे देश में प्रकाश पहुँचा है। आज इसकी सजावट, इसका प्रकाश, इसकी सजीवता देखने ही योग्य है।

किसी ने द्वार के बाहर से कहा—"क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?"

यो०—आइए, आइए, यह तो आप का घर है।

आगंतुक ने भीतर आ कहा—"मुझे पहचानते हैं ?"

वह झुककर बाबा का चरण छू खड़ा हो गया।

यो०—नाम-ग्राम तो आपने कुछ बताया नहीं, पर बहुत बड़ा काम किया है। आपको न पहचानूँ भला।

यह वही वाइसराय का अर्दली था और उसी वेश में जिसे और जिसमें बहुधा हम लोगों ने देखा था। उसने झट अपना लिबास उतार दिया—दाढ़ी-बाढ़ी कुछ न रही। यह लो, यह तो आँखों में आँसू भरे चन्द्रावती के पति चन्द्रदेव हो गये !

इसी समय दूसरा मनुष्य आया। ये थे श्याम। थोड़ी ही देर बाद एक स्त्री एक बालक लिये आयी। ये थे दिवंगत अनोखेराय की पत्नी और पुत्र।

फिर सावित्री के पिता, जितेन्द्र और सावित्री का आगमन हुआ। थोड़ी देर बाद एक अतीव सौम्य व्यक्ति का प्रवेश हुआ। ये थे मधुकरजी। अभिनन्दन के पश्चात् 'लोकायन' नाम काव्य-ग्रन्थ बाबा के करकमलों में देते हुए कहा—"यह मेरी तुच्छ भेंट है बाबा।"

ग्रंथ योगेन्द्र की सम्पूर्ण जीवनी का महाकाव्य था। बाबा ने कहा—"यह काव्य योगेन्द्र की ही तरह अमर रहेगा बेटा। इसके लिए मैं बहुत लालायित था।"

योगेन्द्र ने कहा—"बाबा, तुम्हारी कृपा से सभी अभिलाषाएँ पूरी हुईं। पर पता नहीं सविता इस संसार में है, या अपने अमर शहीदों के साथ—वह बस्ती जो इससे कहीं बड़ी और कहीं अधिक समृद्धिशालिनी है।"

कर्नल और सावित्री दूसरे कमरे में चले गये। वहाँ से लौट आने पर कर्नल ने कहा—"बाबा, मैं कौन-सी भेंट आप और नेताजी के चरणों पर रक्खूँ ?"

बाबा—तुम चाहे जो दे सकते हो। तुम बड़े समर्थ और रहस्यमय हो।

यो०—तुमसे तो कोई भेंट पाना बाकी नहीं रहा कर्नल।

क०—सविता को देना तो मेरे हाथ की बात नहीं, लेकिन उसका कुछ समाचार—

यो०—तो बताओ कर्नल, जल्द बताओ न।

कर्नल ने उस महिला की आत्मकहानी उनके हाथ में देते हुए कहा—"इसके अन्तिम पृष्ठ देखिए।"

यह वही कहानी थी जो वे द्वीप में कर्नल के साथ पढ़ा करते।

योगेन्द्र ने देखा कि जहाँ तक वे पढ़ चुके थे उसके आगे कई पृष्ठ लिखकर अन्त में लिखा था—सविता।

योगेन्द्र ने सिर उठा विस्मय से पूछा—"तो वह है कहाँ ? या तुमने लिखकर उसका नाम लिख दिया है ?"

कर्नल ने कहा—"जी हाँ, मैंने ही लिख दिया है।"

यो०—तो वह है कहाँ ?

क०—आप देखते नहीं हैं ?

योगेन्द्र ने विस्मय से उनकी ओर देखा और देखा कि कर्नल ने अपना लिबास हटा दिया है और उनके सामने ब्लाउज और साड़ी पहने तरुण सविता खड़ी है। वे मंत्रमुग्ध हो गये, सब आश्चर्य-मुग्ध ! कर्नल—सविता !! जादू की विचित्र करामात देख रहे थे।

वे बोले कर्नल ! तुमने जो अशेष आनंद मुझे दिया उससे भी अधिक तो आश्चर्य दिया। ओह ! तुम कितनी रहस्यमय हो ! मुझे इतने दिनों अंधा बनाए रक्खा। वाह रे मेरे कर्नल ! वाह रे मेरे कर्नल !!

चन्द्रा ने विस्मित हो कहा—"मेरी देवरानी तो ऐसी जादूगरनी निकली कि··· ओह : क्या क्या हो गया !"

उसी समय चन्द्रा की दृष्टि खूँटी पर पड़ी। उन्होंने देखा कि सुहागरात की दोनों मालाएँ आज तक वैसे ही सूखी पड़ी हैं। दूर की उस अँधेरी रात से उनका समग्र जीवन आलोकित हो उठा। उन्होंने मालाएँ उतार सविता और योगेन्द्र के गले में डाल दीं।

"यह कैसी माला—सूखी—देवी जी ?"

"जीवन के बहुत बड़े सुहाग पर्व की माला है। सूखी! इनसे हरी मालाएँ मैंने नहीं देखी हैं।"

हल्की लज्जाभरी मुस्कान सभी अधरों पर फैल गयी।

और वे मालाएँ! कितनी लज्जा, कितनी मुस्कुराहट, कितना प्रेम—जो उन प्रेमप्रतीकों ने एक ही रात में छक-छक पिया था—उनके अधरों से उमड़ रहा था!

सावित्री ने उस बालक को, जिसे उसने पाला था और जो सविता का था, सविता की ओर बढ़ा दिया। सविता ने उसे योगेन्द्र के आगे करते हुये आँखें नीची कर कहा—"यह आपकी एक रात की थाती है—राजेन्द्र!

सविता की आँखें भर आयीं।

बाबा ने कहा—"बेटी सविता, तुम धन्य हो! बेटा राजेन्द्र! पिता की ही तरह तुम भी अमर हो जाओ!

योगेन्द्र! यह मंज़िल कहाँ ?—

तुम्हारे—कर्मयोगी—के—
कदमों पर!

मुद्रक—मुन्नीलाल, कल्याण प्रेस, साक्षीविनायक, बनारस।